हिंदी के अनुष्ठान में अर्घ्य बनी एक पत्रिका : अरुण नागरी

देवराज

(प्रो. देवराज का पूर्वोत्तर से घनिष्ठ संबंध रहा है। वे पूर्वोत्तर के लेखन से सुपरिचित हैं तथा इस बारे में उनका गहन अध्ययन और शोधपरक मूल्यांकन 'कंचनजंघा' पत्रिका के पाठकों के लिए नया नहीं है। अपने समय में राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुकी 'अरुण नागरी' पत्रिका अरुणाचल प्रदेश से प्रकाशित एक सुरुचिपूर्ण बौद्धिक विमर्श की पत्रिका थी, जिसके बारे में देवराज जी ने बड़ी आत्मीयता और मनोयोगपूर्वक आलोचनात्मक ढंग से लिखा है। यह लेख 'कंचनजंघा' पत्रिका के पिछले अंक में प्रकाशित किया जा चुका है, लेकिन इसके महत्त्व को दृष्टिगत रखते हुए हम अरुणाचल प्रदेश केंद्रित इस विशेष अंक के लिए यह आलेख अपने सुधि पाठकों के लिए पुनः प्रकाशित कर रहे हैं।)

अरुण नागरी (अरुणाचली भाषा साहित्य की त्रैमासिक पत्रिका) का प्रवेशांक सन् 1995 में प्रकाशित हुआ था। इसके संपादकीय में कहा गया था, "'नागरी लिपि' को विश्व नागरी का नाम देने वाले सर्वोदयी संत आचार्य श्री विनोबा भावे का यह जन्म शताब्दी वर्ष है। अरुणाचली भाषाओं को जितनी स्पष्टता और सरलता से नागरी लिपि में लिखा जा सकता है, उतनी स्पष्टता से रोमन में नहीं। आचार्य भावे समस्त देश को नागरी के द्वारा जोड़ना चाहते थे। देश को जोड़ने और देश को जानने की दिशा में किया जाने वाला हमारा प्रयास कैसा रहता है, वह भविष्य के गर्भ में छोड़ते हैं।" (पृ. 4)। प्रवेशांक की मुख्य सामग्री में कविताओं के पश्चात 'अरुणाचल की जनजातीय भाषाओं, बोलियों के लिए संपर्क लिपि का प्रश्न' शीर्षक से अरुणाचल प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल श्री माता प्रसाद का वह लंबा पत्र छपा है, जिसे उन्होंने 25 मार्च, 1994 को उस राज्य के सभी मंत्रियों, विधायकों, उपायुक्तों और सामाजिक संस्थाओं को भेजा था। यह एक अर्ध शासकीय पत्र है, जिसे पत्रिका में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है, कि ध्यान से न देखने पर उसके आलेख होने का भ्रम होता है। यह पत्र माता प्रसाद जी की सन् 1995 में ही प्रकाशित अति महत्त्वपूर्ण पुस्तक "मनोरम भूमि अरुणाचल" के परिशिष्ट के रूप में (पृ. 299 पर) विद्यमान है। अरुण नागरी का प्रवेशांक जनवरी-मार्च अंक है, अत: इस बात की संभावना अधिक है, कि वह पुस्तक का अंश बाद में बना होगा। इसका कलेवर पत्रिका के ढाई पृष्ठ में समाया हुआ है, जिसमें माता प्रसाद जी ने नौ बिंदुओं में अपना मंतव्य प्रकट किया है। पहले ही वे इस पत्र को लिखे जाने की पृष्ठभूमि स्पष्ट करते हैं- "यह पत्र आपको लिखने का मेरा उद्देश्य मेरे इस दृष्टिकोण से आपको अवगत कराना है, कि हमारी जनजातियों की भाषा अथवा बोली के लिए 'देवनागरी' लिपि ही सर्वोत्तम है। यद्यपि मैं किसी विशेष लिपि का समर्थक अथवा विरोधी नहीं हूँ, परंतु मेरे दृष्टिकोण के पीछे कुछ ठोस तथ्य हैं।" (पृ. 18)। इसके पश्चात वे अपने पत्र में विभिन्न बिंदुओं के अंतर्गत अरुणाचल प्रदेश में सामान्य संपर्क-माध्यम के रूप में हिंदी भाषा की व्यापक स्वीकृति तथा वहाँ की जनजातियों की भाषाओं के संदर्भ में देवनागरी लिपि की भाषावैज्ञानिक उपादेयता समझाते हैं। अंत की ओर बढ़ते हुए आठवें बिंदु में कहते हैं- "... आप विद्वज्जन को मैं यह यकीन दिलाना चाहता हूँ, कि मैं किसी भी रूप में अपने विचारों को किसी पर थोपना नहीं चाहता। मैं तो केवल अपने मत अथवा पक्ष को आप बुद्धिजीवियों के समक्ष गंभीरतापूर्ण विचार-विमर्श के लिए रखना चाहता हूँ। मेरी धारणा है कि देवनागरी ही केवल ऐसी लिपि है, जो पूरी तरह से विकसित और संपन्न है, जो हमारी बोलियों को

सच्चे अर्थों में व्यक्त कर सकती है; क्योंकि यह लिपि किसी भी अन्य लिपि से अधिक वैज्ञानिक है। हमारे इतिहास और परंपराओं में इसकी जड़ें हैं।" (पृ. 20)। पत्र के नौवें बिंदु से पता चलता है कि माता प्रसाद जी अरुणाचल की राजनीति, प्रशासन और सामाजिक संस्थाओं से जुड़े लोगों के साथ एक ऐसी बैठक की योजना बना रहे थे, जिसमें लिपि-विहीन भाषाओं के लिए अधिकतम सही और वैज्ञानिक-लिपि के चयन पर विचार करके किसी ठोस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके। पत्र में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है, कि किसी भाषा और लिपि के संबंध का प्रश्न जितना वैज्ञानिकता और व्यावहारिकता से जुड़ा होता है, उतना ही इतिहास और संस्कृति से। इनमें से एक की भी उपेक्षा करके भाषा व लिपि के प्रश्न का स्थाई समाधान नहीं खोजा जा सकता।

प्रवेशांक में धर्मराज सिंह का शोधपरक आलेख, "अरुणाचल की भाषाओं बोलियों के लिए देवनागरी लिपि" तीन दशकों से भी अधिक वहाँ के जनजातीय जीवन और उनकी भाषाओं के अध्ययन का परिणाम है। इस आलेख में दो स्पष्ट धाराएँ हैं, एक- अरुणाचल की समस्त जनजातीय भाषाओं के ध्वनि-साम्य के आधार पर वर्गीकरण की धारा और दो- उन जनजातीय भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि की व्यावहारिकता।

अरुणाचल की जनजातीय भाषाओं के अपने अध्ययन का निष्कर्ष बताते हुए धर्मराज सिंह कहते हैं, कि "भाषा-अध्ययन के क्रम में ऐसा पाया जाता है कि यद्यपि एक भाषा दूसरी भाषा से मेल नहीं खाती, फिर भी कुछ भाषाओं की ध्वनि-प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे से काफी मिलती-जुलती हैं। इसी ध्वनि-साम्य को ध्यान में रखते हुए ऐसी कई बोलियों को मिलाकर कई जनजातियों के लिए एक भाषा बनाई जा सकती है।"(पृ. 24)। इसके पश्चात शोधकर्ता ने अरुणाचल की समस्त जनजातीय भाषाओं के चार वर्ग निर्मित किए हैं-

क. "एक- तावांग, दो- ईस्ट कामेङ्, तीन- कामेङ् और चार- मेप्पा की बोलियों की ध्वनियों में काफी साम्य है।

ख. एक- सुवनसिरि, दो- लोअर सुवनसिरि, तीन- पापुमपारे, चार- वैस्ट मियाङ्, पाँच- ईस्ट मियाङ्, छः - दिवाङ् वैली के कुछ हिस्सों में रहने वाले लोगों की ध्वनियों में काफी समानता है।

ग. एक- दिवाङ् वैली के ईदु मिसमी और दो- लोहित के दिगारु मिसमी की बोलियों की ध्वनियों में समानता है।

घ. एक- तिराप और दो- चाङ्लाङ् के लोगों की ध्वनियों में काफी समानता है।" (पृ. 24-25)।

इस वर्गीकरण के आधार पर धर्मराज सिंह ने प्रस्ताव किया है कि "यदि भाषा-वैज्ञानिक तथा अन्वेषण विभाग मिल कर काम करें, तो अरुणाचल प्रदेश के लोगों के लिए मुख्यतः चार भाषाएँ उभर कर सामने आएँगी और उन्हीं में असंख्य बोलियाँ मिल जाएँगी।" (पृ. 25)। यहाँ यह स्पष्ट कर देना अनिवार्य प्रतीत होता है कि यह एक भाषावैज्ञानिक का प्रस्ताव भर है, जिसमें एक प्रदेश विशेष की मूलत: छब्बीस जनजातियों और ऐतिहासिक व राजनैतिक कारणों से उनके अंतर्गत स्वीकृत एक-सौ से अधिक जनजाति-समूहों की छोटी-बड़ी भाषाओं के बारे में एक भाषा-वैज्ञानिक अभिकल्पना तो विद्यमान है, किंतु सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान की विविधता का ध्यान नहीं रखा गया है। शोधकर्ता-लेखक अपने आग्रहों के कारण यह भूल गया है, कि अरुणाचल की मूल छब्बीसों जनजातियाँ अपनी स्वतंत्र सामाजिक और भाषाई पहचान के प्रति अत्यधिक संवेदनशील हैं तथा उनमें से किसी को भी अपनी भाषा का किसी अन्य भाषा में विलीन होना स्वीकार करना कठिन होगा। इसलिए वर्तमान परिस्थितियों में इस प्रस्ताव की उपादेयता भाषाओं के मध्य साम्य के अध्ययन तक ही सीमित है।

इस आलेख में धर्मराज सिंह का अरुणाचल की लिपि-विहीन भाषाओं को लिखने के लिए देवनागरी लिपि के प्रयोग के संबंध में किया गया अध्ययन विशेष महत्त्वपूर्ण है। यह एक 'केस-स्टडी' अध्ययन है, जिसमें आदी-भाषा (आदी जनजाति की भाषा) को आधार बनाया गया है तथा इसके आधार पर अन्य भाषाओं के समान-अध्ययन की सशक्त पृष्ठभूमि उपलब्ध हुई है। इस अध्ययन में पाया गया है, कि 'आदी भाषा में 8 (आठ) स्वर हैं, जबकि देवनागरी में स्वरों की संख्या 12 (बारह) है। आदी भाषा में 18 (अठारह) व्यंजन हैं, जबकि देवनागरी में 31 (इकतीस) व्यंजन हैं। इन तथ्यों के अतिरिक्त एक तथ्य यह है, कि आदी भाषा में कुछ ध्वनियाँ अवश्य ही ऐसी हैं, जिनके लिए देवनागरी लिपि में चिह्न उपलब्ध नहीं हैं। लेखक का सुझाव है कि ऐसी ध्वनियों के लिए उच्चारण-संकेत निर्मित किए जा सकते हैं।' अपने इस अध्ययन में शोधकर्ता-लेखक ने अरुणाचल की जनजातीय भाषाओं के लिए रोमन-लिपि के प्रयोग की व्यावहारिकता की परीक्षा भी की है। रोमन-लिपि में केवल 5 (पाँच) स्वर हैं, अत: लेखक के मतानुसार- "रोमन-लिपि में इतने कम ध्वनि-संकेत होने के कारण यह समस्त स्वर-ध्वनियों को स्वतंत्र रूप से व्यक्त नहीं कर सकते।" (पृ. 26)। इसी के साथ "रोमन-लिपि के वर्णों के नाम तथा उच्चारण में साम्य नहीं है। इतना ही नहीं, एक वर्ण के अनेक उच्चारण हैं, जैसे--- जी (G) से 'ज' और 'ग'। सी (C) से 'स' और 'क'। कई व्यंजन वर्णों को एक साथ मिला कर नई ध्वनि पैदा की जाती है और एक ही संयुक्त व्यंजन कहीं पर कुछ ध्वनि पैदा करता है, तो कहीं पर कुछ। जैसे--- ch से कहीं 'च', तो कहीं 'क'…। रोमन-लिपि में अनेक ध्वनियाँ मौन रहती हैं, जो पढ़ते समय कठिनाई पैदा करती हैं। जैसे--- Pslam (साम), Calm (काम)… ।"(पृ. 26-27)। आश्चर्य नहीं, कि इसी प्रकार की अराजक स्थिति से परेशान होकर जॉर्ज बर्नार्ड शॉ ने अपनी वसीयत में यह इच्छा व्यक्त की थी, कि उनके धन का एक हिस्सा रोमन-लिपि को सुधारने में लगाया जाए, ताकि वह अंग्रेज़ी भाषा के लिए एक सुविधाजनक लिपि बन सके। जहाँ तक अरुणाचल की जनजातीय भाषाओं में उपलब्ध उच्चारण-ध्वनियों का प्रश्न है, उनके लिए रोमन-लिपि नितांत अव्यावहारिक है। धर्मराज सिंह ने आदी भाषा का जो विवेचन प्रस्तुत किया है, उससे स्पष्ट है कि यदि जनजातीय भाषा-विशेषज्ञों की सहमति से विशिष्ट ध्वनि-चिह्नों को निर्मित करके लिपि में समाहित कर लिया जाए, तो इस भाषा को रोमन-लिपि की अपेक्षा देवनागरी-लिपि में ही सर्वोत्तम ढंग से लिखा जाना संभव है। अरुणाचल की न्यिशी तथा कुछ अन्य जनजातियों की भाषाओं के संबंध में भी ऐसे अध्ययन किए गए हैं और उनके निष्कर्ष भी इससे भिन्न नहीं हैं।

अरुण नागरी के प्रवेशांक में डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालय (असम) के तत्कालीन कुलपति, मुकुंद माधव शर्मा का जनजातीय भाषाओं के लिए सुसंगत लिपि के प्रयोग पर विचार करने वाला एक आलेख प्रकाशित किया गया है। 'जनजातीय बोलियों के लिए उपयुक्त लिपि की तलाश और देवनागरी लिपि की प्रासंगिकता' शीर्षक से यह आलेख मूलत: अंग्रेज़ी में लिखा गया था, पत्रिका के लिए जिसका हिंदी अनुवाद, शासकीय महाविद्यालय, ईटानगर के प्राध्यापक वैद्यनाथ सिंह ने किया है। मुकुंद माधव शर्मा ने अपने इस आलेख में असम राज्य की जनजातियों की भाषाओं को लिखने के लिए असमीया, देवनागरी और रोमन लिपि का विवेचन किया है। वे रोमन-लिपि के वैश्विक-विस्तार, प्रौद्योगिकी व तकनीकी क्षेत्रों में उसके प्रवेश, उसके माध्यम से समृद्ध अंग्रेज़ी साहित्य की सुलभता आदि की चर्चा करके कहते हैं--- "अंग्रेज़ी लिपि का चुनाव सर्वप्रथम होना चाहिए। लेकिन जहाँ तक अंग्रेज़ी लिपि का संबंध है, यह 'लेकिन' अंग्रेज़ी की तमाम विशेषताओं के बावजूद एक बहुत

बड़ा 'लेकिन' है।" (पृ. 22)। इसके पश्चात अपने गहन, किंतु सूत्रात्मक-विवेचन के आधार पर वे रोमन लिपि को असम की जनजातीय भाषाओं के लिए न तो लिपि की वैज्ञानिक-व्यावहारिकता की दृष्टि से उपयुक्त मानते हैं और न ही सांस्कृतिक आधार पर। लिपि-विज्ञान के स्तर पर उनके अधिकांश तर्क वही हैं, जिनका उल्लेख धर्मराज सिंह के आलेख के संदर्भ में किया जा चुका है।

मुकुंद माधव शर्मा ने असम की जनजातीय भाषाओं के लिए असमीया लिपि के व्यवहार पर भाषाई और साहित्यिक के साथ ही सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक आधारों पर विचार किया है। वे इन सभी दृष्टियों से असम की जनजातियों और बहु-संख्यक असमीया भाषियों के मध्य स्वाभाविक निकटता मानते हैं और कहते हैं-"... असम की प्रगति और शांति काफी हद तक बहु-संख्यक असमीया भाषी समुदाय और विभिन्न जनजातीय समुदायों की भावनात्मक एकता पर निर्भर करती है। इसलिए जनजातीय समुदाय की तरफ से असमी-लिपि के प्रति एक सहयोगात्मक रवैया तमाम संबंधित लोगों के लिए एक सराहनीय कदम होगा।" (पृ. 23)। लेकिन यहीं, मुकुंद माधव शर्मा दो बहुत महत्त्वपूर्ण पक्षों की ओर हमारा ध्यान खींचते हैं। इनमें से एक पक्ष असमीया लिपि के क्षेत्र-विस्तार और उसकी लिपि-विज्ञान संबंधी सीमाओं से जुड़ा है, जबकि दूसरा पक्ष स्वयं उन्हीं के शब्दों में- "लेकिन कुछ लोगों का कहना है कि आदिवासियों को डर है कि अगर वे असमी लिपि को अपनाएँगे, तो इसका मतलब होगा, अधिक शक्तिशाली असमी संस्कृति के अधीन हमेशा रहना। आदिवासी लोग अपनी स्वतंत्र और निर्बाध अभिव्यक्ति चाहते हैं और अपनी संस्कृतियों को स्वतंत्र रूप से विकसित होते हुए देखना चाहते हैं। विशालकाय वृक्ष की छाया में छोटा पौधा कभी भी फलफूल नहीं सकता। यही कारण है कि आदिवासी लोग असम की बहुसंख्यक असमीया भाषा संस्कृति से अपने आपको दूर (अलग) रखना चाहते हैं।"

हमें ध्यान रखना होगा कि यह कटु-यथार्थ एक असमीया भाषी विद्वान की लेखनी से ही प्रकाश में आया है, जिसमें उपनिवेशवादी-साम्राज्यवादी और कुछ विशिष्ट धार्मिक शक्तियों द्वारा बहुसंख्यक असमीया भाषियों और आदिवासियों के बीच खड़ी की गई दीवार (जो भारत के अन्य क्षेत्रों के बारे में भी सच है) का संकेत छिपा हुआ है। विवेचनीय विषय की सीमाओं के कारण मुकुंद माधव शर्मा इस यथार्थ का विस्तार नहीं करते। वे अपने को भाषा और लिपि के सांस्कृतिक सरोकारों पर केंद्रित करते हुए एक तटस्थ अभिमत प्रस्तुत करते हैं- "असम के सभी लोगों के लिए यह वांछनीय होगा कि अगर उनके मस्तिष्क में सही विचार प्रस्फुटित हों, तो वे आपसी समझदारी के माहौल में एक-दूसरे के साथ मिल-जुल कर परिवार के सदस्य के रूप में बिना किसी द्वेष-भाव के शांति और भाईचारे के साथ रहने का एक रास्ता ढूँढ़ निकालें। परंतु अगर आदिवासी लोग असमीया लिपि अपनाने की वांछनीयता से अपने आप को आगाह नहीं कर पाते हैं, तो हिंदी (देवनागरी) लिपि को अपनाने के सुविचार से अपने आप को अवगत कराना होगा। इसका कम से कम यह लाभ होगा कि अगर वे अपने सर्वाधिक समीप की संस्कृति के पास नहीं रहेंगे, तो देश की मूल संस्कृति के सन्निकट अवश्य होंगे। अंग्रेज़ी लिपि को अपनाने से कुल मिला कर वे भारत की पारंपरिक संस्कृति से बिल्कुल अलग-थलग पड़ जाएँगे। इससे जनजातीय समुदाय का अवांछित अलगाव बढ़ेगा, जो उनके अपने हित को ही नुकसान पहुँचाएगा और उनका सांस्कृतिक स्वास्थ्य प्रभावित होगा।" (पृ. 23)।

यह अभिमत देवनागरी-लिपि के उन सभी समर्थकों को मार्ग दिखाने वाला है, जो लिपि-विहीन भाषाओं के लिए देवनागरी के व्यवहार के समर्थन में केवल इस लिपि की वैज्ञानिकता का महिमा-मंडन करते रहते हैं, जबकि जनजाति विशेष अथवा क्षेत्र विशेष के सांस्कृतिक विकास में देवनागरी-लिपि की भूमिका समझने-समझाने में कोई रुचि नहीं लेते।... असम के साथ ही अरुणाचल का संदर्भ भी जोड़ें, तो पाएँगे कि सभी जनजातियाँ लिपि के प्रश्न को संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में सुलझाने के प्रति अत्यधिक संवेदनशील हैं। इसका एक उदाहरण तानी-लिपि के निर्माण की घटना है। अरुणाचल की 'तानी' जनजाति के अंतर्गत पाँच जानजाति-समुदाय हैं- आदी, गालो, आपातानी, तागिन और न्यिशी। इन सभी की अपनी-अपनी भाषाएँ हैं और वर्तमान में उन्हें लिपि की आवश्यकता है। गालो जनजाति के एक शोधकर्ता विद्वान, तोनी कोयु ने सभी तानी भाषाओं के लिए एक लिपि का निर्माण किया और उसे 'तानी-लिपि' नाम दिया। जब उन्होंने इस तानी-लिपि का प्रचार किया और तानी भाषाओं के लिए उसके व्यवहार पर बल दिया, तो आश्चर्यजनक रूप में जनजातीय समूहों ने इस लिपि को स्वीकार करने में कोई रुचि नहीं दिखाई। फलत: तोनी कोयु अपने तमाम प्रयासों के बावजूद अपनी योजना में असफल रहे। यह कोई प्राचीन नहीं, बल्कि बीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण से लेकर इक्कीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण की ही घटना है।

लगभग दस वर्ष पूर्व आदी जनजाति के एक हिंदी विद्वान, ओकेन लेगो ने मुझे बताया था कि तोनी कोयु की तानी-लिपि की ध्वनि-चिह्नों की दृष्टि से परीक्षा नहीं हो सकी। मेरा अनुभव है कि यह इसकी अस्वीकृति का एक कारण है, इसका दूसरा कारण सांस्कृतिक है। तानी जनजाति-वर्ग के जनजातीय-समुदाय अपने धार्मिक अनुष्ठानों में कुछ लिपि-चिह्नों का निर्माण करते हैं। उनका विश्वास है कि उनकी पूर्वज-परंपरा में लिपि विद्यमान थी, जो समय और परिस्थितियों के कारण नष्ट हो गई। यह भी मान्यता है कि जो लिपि-चिह्न बचे रह गए, उन्हें अनुष्ठानों में निर्मित किया जाना अपनी पूर्वज-परंपरा का सम्मान करना और उससे जुड़े रहने के संकल्प को जीवित किए रखना है, क्योंकि अपनी संस्कृति और पूर्वज-परंपरा से कट कर जीवन नहीं जिया जा सकता। इसी के साथ यह मान्यता भी है, कि प्रत्येक लिपि-चिह्न में पूर्वजों का कोई-न-कोई संदेश निहित है। अरुणाचल प्रदेश की हिंदी कथाकार, जोराम यालाम नाबाम (जो स्वयं न्यिशी जनजाति में जन्मी हैं और पूर्वज-परंपराओं के अध्ययन में लगी हैं) के अनुसार तानी-लिपि के निर्माता ने पूर्वज-परंपरा के बचे रह गए इन लिपि-चिह्नों को कोई महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने तानी समूह के जनजातीय समुदायों के बौद्धिकों को भी लिपि-निर्माण के अभियान से नहीं जोड़ा। न उनके साथ कोई विचार-विमर्श किया और न उन्हें अपनी बात समझाई। परिणामस्वरूप लिपि-निर्माण का उनका यह अभियान किसी सार्थक परिणति को प्राप्त होने के पूर्व ही निष्प्रभावी हो गया।

प्रवेशांक में हिंदी के विद्वान और भारत के महामहिम राष्ट्रपति, शंकरदयाल शर्मा की अनुवाद के संबंध में एक अत्यंत उपयोगी टिप्पणी (जो संभवत: उनके किसी भाषण अथवा लेख का अंश है) प्रकाशित हुई है, जिसमें वे कहते हैं- "... भारतीय भाषाओं का हिंदी में अनुवाद सीधे-सीधे होना चाहिए, अन्य भाषा के माध्यम से नहीं। यदि तमिल साहित्य का अनुवाद हिंदी में होता है, तो वह सीधे तमिल से हिंदी में आए, न कि अंग्रेज़ी या अन्य किसी भाषा के माध्यम से। भारतीय भाषाओं और हिंदी भाषा के बीच किसी अन्य भाषा की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। तभी उस अनुवाद में जान आ सकेगी और तभी दोनों भाषाएँ एक-दूसरे से कुछ ग्रहण कर अपने आप को समर्थ कर सकेंगी।" (पृ. 6)। शंकरदयाल जी ने यह अभिमत भारत की राजभाषा, हिंदी

की भूमिका के संदर्भ में प्रकट किया है। संदेश स्पष्ट है, जैसे अन्य भाषाभाषी हिंदी सीख कर अपनी-अपनी भाषाओं से हिंदी में अनुवाद करते हैं, वैसे ही हिंदीतर भाषी क्षेत्रों में (और हिंदी क्षेत्रों में भी) रहने वाले हिंदी-प्रेमी विद्वान कोई-न-कोई भारतीय भाषा सीख कर उससे सीधे हिंदी में अनुवाद करें, तभी हिंदी के तृणमूल-विकास को गति प्राप्त होगी। कहना होगा, यही अनुवाद-प्रक्रिया हिंदी से अन्य भाषाओं में अनुवाद के संबंध में भी व्यवहार में लाई जानी चाहिए। साहित्यिक आदान-प्रदान की इस प्रक्रिया से समस्त भारतीय भाषाओं का विकास संभव होगा तथा भारत की सामूहिक-चेतना अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो सकेगी।

अरुण नागरी के प्रवेशांक में 'आंतर भारती' नाम से एक खंड की प्रस्थापना है, जिसमें गालो भाषा-भाषी हिंदी लेखक (जो अरुणाचल के पहले हिंदी लेखक हैं), जुमसी सिराम द्वारा एक कविता का गालो भाषा में किया गया अनुवाद देवनागरी-लिपि में प्रकाशित किया गया है। साथ में हिंदी-पाठ भी है। इसका एक अंश है- "मैं करूँगा सुरक्षा अपनी मातृभूमि की/और लड़ूँगा भेड़ियों के विरुद्ध/ दुर्भिक्ष के विरुद्ध/लूट-खसोट करने वाले/व्यापारियों के विरुद्ध/तथाकथित न्यायालयों के विरुद्ध/और करूँगा सुरक्षा अपनी मातृभूमि की/मैं खो बैठूँ भले ही/अपने पशु, अपने/खेत, अपने वन और उपवन/भले ही खो बैठूँ/अपना लाभांश/अपनी आय, अपना ब्याज/परंतु करूँगा सुरक्षा/अपनी मातृभूमि की।" (पृ. 16)। यहाँ उल्लेखनीय है, कि इसे प्रकाशित करते हुए कहीं इसकी मूल भाषा का संकेत नहीं किया गया है और गालो अनुवाद के साथ हिंदी-पाठ भी दिया गया है, अत: यह भ्रम होता है कि मूल कविता हिंदी में रची गई होगी। उधर संपादक ने इसे जर्मनी के प्रो. फ्रांसिस जे. को 1985 के पूर्व ही भेजने की सूचना भी दी है। इससे भ्रम और भी बढ़ जाता है। इस लेखक ने इस विषय में संपादक से ही बात करने का निश्चय किया, तो अरुण नागरी के संपादक, रमण शांडिल्य से 18 अगस्त, 2020 को हुई चर्चा में पता चला, कि मूल कविता जर्मन भाषा की है, जिसका उन्हें अंग्रेज़ी अनुवाद मिला था। उन्हें यह कविता इतनी पसंद आई, कि उन्होंने इसका हिंदी अनुवाद कर डाला और तत्कालीन पश्चिमी जर्मनी के प्रोफेसर के अनुरोध पर जुमसी सिराम से गालो भाषा में अनुवाद करवा कर (अपने हिंदी अनुवाद सहित) उन्हें भेजा। इसके बाद जब अरुण नागरी प्रकाशित हुई, तो इसके हिंदी और गालो अनुवाद को प्रकाशित कर दिया। निस्संदेह कविता बहुत प्रभावशाली है और जर्मनी के साथ ही वर्तमान भारतीय संदर्भ में भी प्रासंगिक है, किंतु इसके संबंध में दिया गया स्पष्टीकरण भविष्य में किए जाने वाले शोध-कार्य के लिए आवश्यक होने के साथ ही इसलिए भी आवश्यक है कि प्रवेशांक में ही शंकरदयाल शर्मा ने दो भाषाओं के बीच किसी तीसरी भाषा को लाए बिना सीधे अनुवाद का आग्रह किया है, जबकि उपर्युक्त अनुवाद इस पद्धति का पालन नहीं करता। इस सबके बावजूद, आंतर भारती योजना अपने आप में एक अनूठी शुरुआत थी।

हिंदी कवियों की कई कविताएँ भी प्रवेशांक में हैं, जिनमें अरुणाचल के महत्त्व को प्रस्तुत करने वाली वहाँ के तत्कालीन राज्यपाल माता प्रसाद जी की कविता उल्लेखनीय है- "पर्वतराज हिमालय-सुत सा/शोभित अरुणाचल है/स्नात: सूर्य किरण से प्रात:/इसका तन निर्मल है/सज्जन-सरल सुपुत्र यहाँ के/राष्ट्र भक्ति में अविचल/भारत माता गर्व करे/इसका ऐसा अंचल है।" (पृ.11)

देवनागरी लिपि, हिंदी और अरुणाचल की जनजातीय भाषाओं के संबंध में प्रवेशांक में जिस दृष्टिकोण और दिशा की उपस्थापना की गई थी, अगले सभी अंकों में उसका विस्तार देखने को मिला। दूसरे अंक के संपादकीय में लिपि के संबंध में भीतर तक हिला देने वाला रहस्योद्घाटन किया गया- "... अंग्रेज अरुणाचल के

पासीघाट नामक स्थान में जब आए, तो उन्होंने उस क्षेत्र में बसने वाली एक जनजाति, पादाम की भाषा-लिपि के लिए एक नया शब्द गढ़ा-'पादाम आखर'। यह पादाम भाषा को रोमन में लिखने-प्रचारित करने की एक सुनियोजित साजिश थी।" रोमन-लिपि को पादाम आखर कह कर प्रचारित करने का लक्ष्य आदिवासी समुदायों के सहज विश्वासी मानस को भुलावे में डाल कर एक ऐसी लिपि को लागू करना था, जिसमें उनकी भाषा को सही-सही नहीं लिखा जा सकता था और न जिसके माध्यम से उनकी सांस्कृतिक आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता था। बरसों पहले आदिवासियों को अंग्रेजी भाषा की वर्णमाला सिखाने के लिए ऐसे ही प्रयास नागालैंड में दिखाई पड़े थे। वहाँ दु:खद ढंग से अंग्रेज भाषा प्रचारकों ने धर्म का सहारा लिया था। यह प्रसंग फिलहाल यहीं तक...

देवनागरी लिपि के संबंध में अरुण नागरी के तीसरे अंक में अति महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रकाशित की गई। यह बापू लक्ष्मण श्रीधर वाकणकर 'लिपिकार' की पुस्तक, 'साइंटिफिक नागरी फोनोग्रेफी' के एक अंश का अनुवाद है, जिसे 'नागरी लिपि की वैज्ञानिकता और उसकी कंप्यूटर युग में सार्थकता' शीर्षक आलेख के रूप में छापा गया है। इस सामग्री में अनेक ऐसी जानकारियाँ हैं, जिसने सामान्य हिंदी पाठक प्राय: अनभिज्ञ रहते हैं। वाकणकर देवनागरी लिपि के बारे में कहते हैं- "पश्चिमी लोगों ने जिसके लिए 'देवनागरी नाम' लोकप्रिय किया, वह प्राचीन नहीं है। पद्म पुराण में उसे 'देवलिपि भारती' ऐसा कहा जाता है। वातुलागम में उसे 'नागर' यानी शहर की लिपि कहा है। ऋग्वेद के पाणिनि मुनि (ने) प्रचलित 'शिक्षाध्याय' में उसे 'शंभु' मते यानी माहेश्वरी कहा है। संत विनोबा भावे उसके लिए केवल 'नागरी' नाम ही पर्याप्त मानते थे। बौद्ध-जैन काल के प्रारंभ में शिलालेखों ताम्रपत्रों पर उत्कीलन के लिए जो लिपि सुधार हुआ, 'ब्राह्मी' नाम से लोकप्रियता प्राप्त हुई।" (पृ. 14-15)। यहीं लिपि के इतिहास के संबंध में प्रचलित भ्रम का वाकणकर द्वारा किया गया निवारण भी उल्लेखनीय है। वे कहते हैं-"ब्राह्मी पूर्वकालीन अभिलेखों की उपलब्धि गत (19वीं) शताब्दी में नहीं हुई थी, इस कारण से प्रथम कल्पना यह प्रसूत की गई, कि 'वेद-काल में लेखन-विद्या नहीं थी' और ब्राह्मी लिपि ही सभी भारत जन्य लिपियों की जननी थी। जब सिंधु नदी की उपत्यका से सैंधवी अभिलेख प्रकाश में आए, तो ब्राह्मी लिपि का संबंध उससे जोड़ने के प्रयत्न होने लगे।... 1966 में ऋग्वेद की एक ऋचा में स्पष्ट मिला कि 'अश्वारूढ़ इंद्र के लिए रचा हुआ नया काव्य (ब्रह्म) हम गौतम वंश वाले उत्कीलन (अतक्षत्त्) कर रहे हैं' (सनायते गौतम इंद्र नव्यं अतक्षत् ब्रह्म हरियोजनाय। ऋ. 1.62.13)।..... गीली ईंट पर सूची से उत्कीलन करने का वर्णन कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता तथा अथर्ववेद में मिलते हैं (यस्यां आद्रायां इष्टकायां त्रिपुंड्रवद् रेखायां क्रियते.... तद् देवानां चिह्नम्- तै. सं. 4.2.9..... ऋग्वेद संहिता में 'लिख' धातु से बना एक शब्द भी है।...)।" (पृ. 15)।

इस आलेख से पता चलता है, कि "चिकने बनाए हुए स्लेट पत्थर पर उल्टी अक्षर पंक्तियाँ खुदवा कर उसमें गेरुआ रंग भरने के बाद कपड़े पर श्लोक छापने का प्रयत्न ईसा की 11वीं शताब्दी के प्रारंभ में धारा नगरी के राजा भोज ने किया था। उसका प्रमाण आज उपलब्ध है।" (24)। लेकिन पश्चिम में टंकण प्रौद्योगिकी आधारित खोजें पूरी तरह रोमन लिपि की अनुकूलता को ध्यान में रख कर की गईं। वही टंकण मशीन जब पश्चिम से भारत आई, तो नागरी लिपि में एक ऐसे सुधार-युग का प्रारंभ हुआ, जो इस भय पर टिका हुआ कहा जाता था, कि यदि नागरी लिपि में टंकण मशीन के अनुसार बदलाव न किए गए, तो हमें रोमन-लिपि अपनानी होगी। वाकणकर

ने कहा, कि "इस डर के कारण सन् 1914 से 60 तक 'लिपि सुधार' का आंदोलन भारत में चला।" (पृ. 24)। कहना होगा, कि यह अभी तक चल रहा है, क्योंकि भारत में कंप्यूटर-क्रांति आने के बाद से शासन के स्तर पर नागरी-लिपि में निरंतर बदलाव की कोशिशें हो रही हैं। इस बदलाव का आधार किसी प्रकार की तार्किकता-अतार्किकता न होकर केवल कंप्यूटर के लिए अनुकूलता है। इस संदर्भ में वाकणकर का कथन आँखें खोलने वाला है, वे लिपि सुधार युग का मूल्यांकन करते हुए कहते हैं- "यंत्र में सुधार करने के बजाय लिपि को तोड़ना-मरोड़ना इस आंदोलन का स्वरूप बन गया था। 21 जनवरी, 1960 को भारत के शिक्षा मंत्रालय ने जब 'मानक देवनागरी' अक्षरों के नियम बनाकर उसे जारी किया, तो उस दिन से आंदोलन की समाप्ति हो गई। अब प्रश्न आया, कुंजी-पटल के सुधार का। एक विशेष व्यक्ति के हठ के कारण कुंजी-पटल इतना दोषपूर्ण बना, कि बाएँ हाथ तथा उसकी सबसे छोटी उँगली पर श्रम-भार सबसे अधिक पड़ने लगा, परंतु वही दोषपूर्ण कुंजी-पटल आज भी सरकारी हठ के कारण वैसा ही दोषपूर्ण रह गया है।" (पृ. 14)।

लक्ष्मण श्रीधर वाकणकर के इस आलेख में सबसे संघर्षपूर्ण और रोमांचक अभियान की जानकारी कंप्यूटर में देवनागरी-लिपि के व्यवहार को संभव बनाने की है। कंप्यूटर का संकेतक-कोष्ठक रोमन-लिपि के अनुकूल बनाया गया था, जिस कारण उसमें देवनागरी के सभी लिपि-चिह्न, अर्धाक्षर और संयुक्ताक्षर समायोजित नहीं हो सकते थे। वाकणकर को अचानक सूझा, कि "यदि हमारी लिपियाँ वैज्ञानिक दृष्टि से 'ध्वन्यात्मक' हैं, तो आकृतियों को अंत: प्रेरित करने के बजाय, यदि हम ध्वनि-परमाणुओं (photonic-atoms) को अंत: प्रेरित करें तो क्या होगा?" (पृ. 25)। यही वह शोध-प्रश्न है, जिसने वाकणकर को 'टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च' नामक प्रख्यात संस्थान के वैज्ञानिक एस. पी. मुदूर के साथ मिलकर प्रयोगों की एक श्रृंखला पर अहर्निश जुट जाने के लिए प्रेरित किया। काफी परिश्रम के बाद, "…जब अवयवों के 'अकात्मक' (digital) चित्र बना कर कंप्यूटर की स्मरणिका में बैठाए गए, उसका ध्वन्याकृतिक (phonographic) कुंजी-पटल बनाया, उसकी आज्ञावली (software) बनी, और वह निरपवाद बनी, तब चल कर एक दिन कंप्यूटर के पर्दे पर संस्कृत वाक्य प्रकट हुए।"(पृ. 25)। यह एक लिपि-वैज्ञानिक की अद्भुत परिकल्पना के साथ ही नागरी-लिपि की वैज्ञानिकता को मिली प्रौद्योगिकीय सफलता की गौरवशाली घटना है। इसीलिए वाकणकर कहते हैं-"वैज्ञानिक प्रगति की कोई सीमा नहीं होती, परंतु यह मौलिक तथ्य ध्यान में रखना आवश्यक है, कि नागरी तथा सहभागिनी लिपियाँ इतने थोड़े समय में आरूढ़ हो सकीं, उसका कारण है, उसकी वैज्ञानिक संरचना, जो हमारी धरोहर है। ऐसा एक दिन अवश्य आएगा, जब 'नागरी-लिपि' विश्व-लिपि के सिंहासन पर आसीन होगी। परंतु हम कितना काम करेंगे, इस पर यह सुयश अवलंबित होगा (न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशंति मुखे मृगा:)।" (पृ. 24)।

अरुण नागरी के अंकों में वहाँ के राज्यपाल, माता प्रसाद जी के पाँच भाषण प्रकाशित हुए। यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए, कि इन भाषणों के प्रकाशन का कारण किसी भी रूप में उनका राज्यपाल होना न होकर हिंदी का एक अच्छा लेखक होना, अरुण नागरी का मुख्य संबल होना और अरुणाचल की जनजातीय भाषाओं व साहित्य के हित के लिए काम करने की भावना रखना प्रतीत होता है। उनके पाँच भाषणों में से तीन पूरी तरह हिंदी भाषा पर केंद्रित हैं। पहला भाषण गौहाटी विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग (स्था. 31 अक्तूबर, 1970)के रजत जयंती समारोह के अवसर पर 18 नवंबर, 1995 को दिया गया था। इस भाषण में उन्होंने असम के हिंदी-प्रचार आंदोलन में लोकप्रिय गोपीनाथ बरदोलई की ऐतिहासिक भूमिका का स्मरण करने के साथ ही

नागरी लिपि के संदर्भ में आचार्य विनोबा भावे एवं हिंदी-सेवा के लिए कामिल बुल्के सहित अनेक विदेशी हिंदी विद्वानों को याद किया है। लेकिन माता प्रसाद जी के इस भाषण का उल्लेखनीय पक्ष हिंदी में किए जाने वाले शोध-कार्य को प्रस्तुत किए जाने के लिए हिंदी भाषा के ही प्रयोग की अनिवार्यता से संबंधित है। यह इसलिए भी महत्त्वपूर्ण कहा जाना चाहिए, कि वे जिस विश्वविद्यालय में भाषण दे रहे थे, उसी में हिंदी विषय का पीएच. डी. उपाधि हेतु किया जाने वाला शोध-कार्य अंग्रेजी में प्रस्तुत किए जाने की बाध्यता थी। यह दशा उस विश्वविद्यालय में थी, जहाँ हिंदी विभाग स्थापित हुए पच्चीस वर्ष पूरे हो चुके थे। इसलिए अनुमान है, कि उन्होंने इस प्रसंग को जान-बूझ कर अपने भाषण में शामिल किया होगा। उन्होंने कहा- "... कुछ विश्वविद्यालयों में तो हिंदी विषय के शोध-पत्र भी रोमन लिपि में लिखवाए जाते हैं। यह हिंदी का मज़ाक उड़ाना ही कहा जाएगा। यह सती-सावित्री और सीता जैसी आदर्श नारी को घुटनों तक स्कर्ट पहना कर समाज के सामने खड़ी करके उनकी हँसी उड़ाने जैसा है।"(अंक-5, पृ. 16)। उन्होंने इस प्रसंग को तीन वर्ष बाद पुन: मेघालय की राजधानी शिलाङ् में रूपंबरा संस्था द्वारा आयोजित 'दसवें अखिल भारतीय राजभाषा सम्मेलन' में उठाया। स्वतंत्रता के स्वर्ण जयंती और महात्मा गांधी के एक-सौ अट्ठाईसवें जन्म वर्ष के अवसर पर आयोजित इस सम्मेलन में माता प्रसाद जी ने कहा-"देश के कुछ अहिंदी भाषी राज्यों में विश्वविद्यालयों में हिंदी में अनुसंधान कार्य किए जाते हैं, इसके लिए वे विश्वविद्यालय बधाई के पात्र हैं। लेकिन ऐसे कुछ विश्वविद्यालयों में हिंदी विषय के शोध प्रबंध को हिंदी भाषा की नागरी लिपि में लिखने के स्थान पर रोमन लिपि में लिखने को विवश किया जाता है, इससे तो हिंदी की टांग ही तोड़ने का प्रयास किया जाता है।" (अंक-13-14, पृ. 20)। लगता है, वे एक बार फिर अपनी आवाज़ गौहाटी विश्वविद्यालय के कानों तक पहुँचाना चाहते थे, जो शिलाङ से केवल तीन घंटे दूर है। आखिर, सन् 2019 में गौहाटी विश्वविद्यालय के कानों में माता प्रसाद जी की आवाज़ पहुँची और उसने अन्य हिंदी सेवियों की आवाज़ भी सुनी तथा हिंदी विषय के शोध प्रबंध हिंदी भाषा (देवनागरी लिपि) में प्रस्तुत किए जाने की बात आधिकारिक रूप से मान ली।

माता प्रसाद जी के कुलाधिपतित्व-काल में ही राजीव गांधी विश्वविद्यालय (उस समय अरुणाचल विश्वविद्यालय) में हिंदी विभाग प्रारंभ किया जाना संभव हुआ था, जिसकी घोषणा उन्होंने प्रथम दीक्षांत समारोह में सन् 1997 में की थी, "मुझे बताते हुए प्रसन्नता हो रही है, कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने इस विश्वविद्यालय के लिए नवीं पंच वर्षीय योजना में 2 करोड़ 20 लाख रुपए की धनराशि आवंटित की है, जिसमें हिंदी विभाग के लिए एक रीडर और दो लेक्चरर की नियुक्ति की व्यवस्था है।" (अंक- 13-14 पृ. 37)। स्मरणीय है, कि 4 फरवरी, 1984 में अरुणाचल विश्वविद्यालय की स्थापना हो जाने के बावजूद तेरह-चौदह वर्ष बाद तक भी हिंदी विभाग नहीं खुला था। यहाँ तक कि अरुण नागरी के संपादक ने सन् 1998 के अंक 13-14 के संपादकीय में भी इस प्रकरण को उठा कर विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग प्रारंभ किए जाने के औचित्य की ओर ध्यान आकर्षित किया- "राज्य के अनेक जनजातीय युवक-युवतियाँ दूसरे विश्वविद्यालयों से हिंदी में स्नातकोत्तर शिक्षा प्राप्त कर कहीं न कहीं सेवारत हैं, किंतु उन छात्रों की समस्या इन चौदह वर्षों में यथावत बनी हुई है, जो यहाँ के डिग्री कॉलेजों से स्नातक स्तर तक तो हिंदी विषय रख कर अपनी शिक्षा पूरी कर लेते हैं, पर अरुणाचल विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग नहीं होने के कारण दिशाहारा बने फिरते हैं।" इस प्रकार के प्रयासों और जनता की मांग के फलस्वरूप सन् 1999 में अरुणाचल विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग प्रारंभ कर दिया गया। इससे न

केवल भारी संख्या में स्थानीय विद्यार्थियों को हिंदी में उच्च शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा प्राप्त हो गई, बल्कि आदिवासी समुदाय के योग्य व्यक्तियों को प्राध्यापक के रूप में नियुक्तियाँ भी मिलीं।

इन भाषणों में डॉ. राममनोहर लोहिया, डॉ. रघुवीर और क्यूबा में भारत के राजदूत से जुड़े प्रसंग भी हैं, जिनसे विश्व-मंच पर किसी देश ही नहीं, बल्कि उसके समस्त नागरिकों की स्वतंत्र पहचान के लिए उसकी अपनी भाषा के महत्त्व का पता चलता है। प्रसिद्ध है, कि जब लोहिया जी अपने शोध-कार्य का अंग्रेजी में लिखा प्रतिवेदन लेकर डॉ. जुंबार्ड के पास गए, तो उन्होंने कहा, मुझे अंग्रेज़ी नहीं आती, इसे जर्मन भाषा में लिख कर लाइए। वे जर्मन थे। लोहिया जी ने जर्मन सीखी और उसमें अपना शोध-प्रतिवेदन तैयार किया। जब वे उसे फिर से लेकर गए, तो "डॉ. जुंबार्ड ने डॉ. लोहिया से कहा, मैं अंग्रेज़ी खूब जानता हूँ, किंतु मुझे अपनी राष्ट्र-भाषा से प्रेम है।" (अंक 9-12, पृ. 13)। इसी प्रकार एक भाषण में प्रसिद्ध विद्वान डॉ. रघुवीर का प्रसंग प्रस्तुत करते हुए माता प्रसाद जी ने कहा-"वे फ्रांस के एक राज-परिवार में वहाँ जाने पर टिका करते थे। वहाँ पर उन्हें एक भारतीय मित्र का पत्र डाकिया गृह-स्वामिनी को दे गया। गृह-स्वामिनी की ग्यारह वर्षीय पुत्री वह पत्र डॉ. रघुवीर को देने गई। पत्र देकर वह उत्सुकतावश रुक गई, यह देखने के लिए कि वह पत्र किस भाषा में लिखा गया है। पहले तो डॉ. रघुवीर ने आनाकानी की, किंतु बाद में उन्होंने वह पत्र उस लड़की को दिखा दिया। लड़की बोली, यह पत्र तो अंग्रेज़ी में है, क्या आपके राष्ट्र की कोई भाषा नहीं है? डॉ. रघुवीर को सचाई बतानी पड़ी। उस दिन भोजन के बाद गृह-स्वामिनी ने कहा, - डॉ. रघुवीर, मुझे बड़े दुख के साथ कहना पड़ रहा है- आगे से आप हमारे घर नहीं ठहर सकेंगे। आइंदा आप अपना ठिकाना कर लें, क्योंकि मुझे मेरी लड़की ने बताया है, कि आपकी कोई भाषा नहीं है, जिसकी अपनी कोई भाषा न हो, फ्रेंच लोग उसे बर्बर कहते हैं तथा उससे कोई संबंध रखना अपमान की बात मानते हैं। डॉ. रघुवीर बहुत लज्जित हुए। गृह-स्वामिनी ने पुन: कहा, हम फ्रेंच लोग आतिथ्य के लिए प्रसिद्ध हैं, इसलिए आपका तिरस्कार करते हुए मुझे दुख है, लेकिन भाषा के नाम पर कोई समझौता नहीं कर सकते।" (अंक-5, पृ. 14-15)। अपने शिलाङ् वाले भाषण में माता प्रसाद जी ने क्यूबा में भारत के राजदूत वाला प्रसंग उठाया। उन्होंने कहा- "क्यूबा में हमारे देश के राजदूत एक अवसर पर वहाँ अंग्रेज़ी में बोलने लगे, तो वहाँ एक व्यक्ति ने कहा, दूसरे सभी देशों के राजदूत तो अपने देश की भाषा में बोल रहे हैं, क्या आपके देश की कोई भाषा नहीं है? फिर स्वयं ही उसने उत्तर दिया- अच्छा, भारत तो दो-तीन सौ वर्षों तक इंग्लैंड का उपनिवेश रहा है, इसलिए अंग्रेज़ी ही आपकी राजभाषा है।" (अंक-13-14, पृ. 16)। कहा जाता है, कि इसी से मिलती-जुलती घटना तत्कालीन सोवियत रूस में भारत की राजदूत के रूप में कार्यभार संभालने की प्रक्रिया का पालन करने के क्रम में वहाँ के राष्ट्रपति के समक्ष अपने दस्तावेज़ प्रस्तुत करते समय विजयलक्ष्मी पंडित के साथ भी हुई थी।

अरुण नागरी में 'दस्तावेज़' के अंतर्गत माता प्रसाद जी का एक पत्र प्रकाशित हुआ है, जो हृदय नारायण सिंह (प्रधान संपादक- साहित्य धर्मिता, जौनपुर) के पत्र के उत्तर में लिखा गया है। यह पत्र अरुण नागरी के ही छठे अंक में प्रकाशित हुआ था, जिसके मूल भाग का एक अंश इस प्रकार है- "माता प्रसाद जी अरुणाचल में हिंदी के लिए सराहनीय कार्य कर रहे हैं, पर थोपने से भयभीत होने की बात क्यों करते हैं। सदाचार, संविधान, न्याय-विधान, राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रगान के बारे में थोपना सर्वथा उचित है, वैसे ही राष्ट्रभाषा के विषय में भी। हमारे नेता यह नहीं समझ पा रहे हैं।" (अंक-6, पृ. 9)। माता प्रसाद जी ने उन्हें जो उत्तर दिया है, उसमें हिंदी के

संदर्भ में अरुणाचल की यथार्थ स्थिति और कुछ तर्क समाहित हैं। इस आलेख में पत्र को ज्यों-त्यों प्रस्तुत न करके उसके निबंधात्मक-कथ्य में प्राप्त स्थितियों और तर्कों का चयन करके उन्हें संख्या देकर प्रस्तुत किया गया है। ऐसा मात्र विषय को समझाने की दृष्टि से किया गया है। सभी संख्याओं के सामने उद्धरण-चिह्नों के बीच की भाषा पत्र के मूल-पाठ की भाषा है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। इस पत्र में जो बिंदु उभर सके हैं, वे आगे दिए जा रहे हैं- 1. "अरुणाचल प्रदेश पूर्वोत्तर में एक अहिंदी भाषी राज्य है।" 2. "अंग्रेज़ी शासन-काल में यह नेफा के नाम से जाना जाता था। असम के गवर्नर का एक एडवाइजर इसका प्रशासक होता था। एडवाइजर प्राय: अंग्रेज़ होते थे। वे सारा कामकाज अंग्रेज़ी में करते थे। उन्होंने अंग्रेज़ी को प्रोत्साहित किया।" 3. "यहाँ के ट्राइबलों की अपनी-अपनी भाषाएँ थीं। क्योंकि यह असम से शासित होता था, इसलिए कुछ स्थानों में असमी भी पढ़ाई जाती थी।" 4. "जब नए राज्य के रूप में इसका उदय हुआ तब अंग्रेज़ी इसकी राज-भाषा बनी, उसे पढ़ाने को प्रोत्साहन दिया गया।" 5. "नया राज्य बनने पर यहाँ केंद्र और राज्य सरकार में देश के प्राय: हर राज्यों से हिंदी या अहिंदी भाषी अधिकारी, इंजीनियर, अध्यापक नियुक्त हुए, उस समय उनके बच्चों के लिए केंद्रीय विद्यालय खुले, जिनमें हिंदी भी पढ़ाई जाती है।" 6. "आवश्यकता को देखते हुए यहाँ की सरकार ने अपने पाठ्यक्रमों में कक्षा 10 तक हिंदी को द्वितीय भाषा के रूप में आवश्यक कर दिया।" 7. "भारतीय सेना, रेडियो और टीवी के गीतों ने यहाँ के लोगों लोगों को हिंदी सीखने में बड़ी सहायता की।" 8. "यहाँ जो लोग हिंदी बोलते हैं, उसकी लिपि रोमन ही है। इसी बात की तरफ ध्यान दिलाने के लिए मैंने यहाँ के अधिकारियों और विधायकों को एक अर्ध-शासकीय पत्र लिखा था, जिसमें सुझाव दिया था, कि जिन जनजातीय भाषाओं की अपनी लिपि नहीं है, उसे नागरी लिपि में लिखना उचित है।" 9. "इसी संदर्भ में मैंने यह भी लिखा था, कि किसी पर यह थोपा नहीं जा रहा है।"10. "भारत के संविधान की धारा 343 [3] में यह व्यवस्था की गई है, कि भाषा की दृष्टि से 'ग' श्रेणी के राज्य, जो अहिंदी भाषी हैं (पूर्वोत्तर के सातों राज्य...) उन्हें अंग्रेज़ी में कार्य करने की छूट है, उनके लिए हिंदी अनिवार्य नहीं है। इसलिए मैंने यहाँ हिंदी संविधान के विरुद्ध थोपना उचित नहीं समझा।" 11. "जहाँ तक न्याय-विधान, संविधान, राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रगान का प्रश्न है, वह तो सबके लिए अनिवार्य है, क्योंकि इनका कोई दूसरा विकल्प नहीं है। किंतु राष्ट्र-भाषा का दूसरा विकल्प है।" 12. "न्यायालय की भाषा भी संविधान की धारा 348 के अंतर्गत सर्वोच्च न्यायालय, उच्च न्यायालय की प्रामाणिक भाषा अंग्रेज़ी ही है।" 13. "अरुणाचल एक सीमांत राज्य है। इसमें क्रिश्चियन धर्म के लोग भी हैं, इनके 10 एम. एल. ए. और कुछ मंत्री भी हैं। ये अंग्रेज़ी के समर्थक हैं। यदि मैं उन पर हिंदी थोप दूँ, तो यहाँ आज जो हिंदी का विकास हो रहा है, उसका विरोध शुरू हो जाएगा।" 14. "एक राज्य में हिंदी प्रसारवाद का विरोध हो रहा है।....आपकी बात मान कर यदि मैं उन पर हिंदी थोप दूँ, तो यहाँ पर भी हिंदी और हिंदी के समर्थकों के विरूद्ध एक आंदोलन खड़ा हो जाएगा।" 15. "प्रदेश के कई विधायकों ने, जिनमें क्रिश्चियन भी हैं, उन्होंने मुझसे कहा है, कि हमारे बच्चे तो अब घर में भी अपनी ट्राइबल भाषा न बोल कर हिंदी ही में बोलते हैं।" 16. "बहुत से शासन के अधिकारी भी अपनी मीटिंगों में हिंदी ही बोलते हैं।" 17. "हिंदी का कहीं भी विरोध नहीं है। यदि इन पर हिंदी थोप दी जाए, तो इसकी प्रतिक्रिया होगी और हिंदी का विरोध शुरू हो जाएगा।" (पृ. 49-50)।

उपर्युक्त में से किसी भी बिंदु पर न तो टिप्पणी की आवश्यकता है और न उसकी व्याख्या की। केवल यह कहना आवश्यक है, कि माता प्रसाद जी का यह पत्र हिंदी के उन सभी अति-उत्साही भक्तों के लिए एक

समर्थ सीख है, जो ऐतिहासिक और राजनैतिक परिस्थितियों के कारण उत्पन्न भारत की भाषा-समस्या के यथार्थ पर विचार न करके शासन-सत्ता के बल पर एक ही झटके में समस्त राज्यों में हिंदी को अनिवार्य बनाना चाहते हैं। वे भूल जाते हैं, कि हिंदी मूलत: न शासन की भाषा है, न राज्य-सत्ता की, बल्कि वह जन-सामान्य की भाषा है और जनता की सामूहिक इच्छा-शक्ति के बल पर ही संपूर्ण राष्ट्र में फैलेगी। अरुणाचल में जन-सामान्य की सामूहिक इच्छा-शक्ति ने अपना प्रभाव दिखा दिया है। इसका एक प्रमाण माता प्रसाद जी के पत्र में दिखाई देता है, जबकि एक और प्रमाण अरुण नागरी के ही दूसरे अंक में प्रकाशित वैद्यनाथ सिंह के आलेख, 'बहुभाषाई समुदायों में भाषा का प्रयोग- अरुणाचल के विशेष संदर्भ में' से प्रस्तुत किया जा सकता है- "प्रत्येक अरुणाचलवासी की भाषा दैनंदिनी तीन भाषाओं से संबंधित है- हिंदी, अंग्रेज़ी और उनकी अपनी मातृ-भाषा।... लिखने-पढ़ने का कर्म अंग्रेज़ी में संपादित होता है, यह मुख्यत: कार्यालय और शिक्षण संस्थाओं तक सीमित है। किसी भी जटिल सवाल का समाधान वे हिंदी में आसानी से समझते हैं।.... वे अपने घर और कार्यालय के बाहर तमाम कार्य हिंदी में संपादित करते हैं। यहाँ हिंदी निस्संदेह एक समृद्ध संपर्क भाषा (लिंक लैंग्वेज) की भूमिका निभाती है।" (अंक-2, पृ. 12)।

अरुण नागरी के 'आंतर भारती' कॉलम के अंतर्गत दूसरे और तीसरे अंक में न्यिशी भाषा की कवयित्री, दिमिन तेली की दो कविताएँ संपादक द्वारा किए गए हिंदी-अनुवाद सहित प्रकाशित हुईं। इनमें से एक में दिमिन कहती हैं- "आप लोगों को, इस संसार से छोड़ कर/जाने को सोचा भी नहीं था/प्रतिदिन प्रति वर्ष इस जीवन को/एक साथ जीने का सोचा था/मेरा यह सोचना निरर्थक हो गया/मैं नहीं रहूँगी तब भी यह सूरज रहेगा/मैं नहीं रहूँगी तब भी यह चांद निकलता रहेगा।" (अंक-2, पृ. 4)। दूसरी कविता में उन्होंने कहा- "हम दोनों जब साथ-साथ रहते थे/सुबह-सुबह चिड़ियाँ चहचहा कर जगाती थीं/जब हम दोनों साथ-साथ घूमते-फिरते थे/प्रति सुबह फूलों को खिला हुआ देखते थे/अभी न तो चिड़ियाँ चहचहाती हैं/न फूल खिल रहे हैं/ हर सुबह जगाने वाली चिड़ियाँ/आपको अब भी जगाती होंगी/हर सुबह आपके बगीचे में फूल अब भी खिलते होंगे/आपका दुख मैं समझती हूँ/मेरे जीवन का सारा सुख आपको मिले।" (अंक-3, पृ. 7)। पाँचवें अंक में आपातानी कवि, मिहिन कानिङ् की कविता है, जिसके अनुवादक का नाम नहीं दिया गया है। इस कविता में कहा गया है- "सूर्य देवता की पूजा करेंगे/शशि देवता की पूजा करेंगे/सूर्य देवता की गोद में हम/शशि देवता की गोद में हम/सूर्य देवता की पूजा करके/शशि देवता की पूजा करके/सूर्य देवता का आशीर्वाद लूँगा/शशि देवता का आशीर्वाद लूँगा/जीने से भी सच बोल कर जिएँगे/मरने से भी सच बोल कर मरेंगे।" (पृ. 9)। छठे अंक में होङ्गर इङो की गालो कविता है, अज्ञात कारणों से जिसका हिंदी अनुवाद नहीं दिया गया है। अंक 9-12 में आदी जनजाति का परंपरागत उद्बोधन-गीत दिया गया है, जिसका भावार्थ धर्मराज सिंह द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इस गीत में जातीय-एकता का संदेश है। इसके भावार्थ का एक अंश इस प्रकार है- "सृष्टि के आरंभ से ही हम सब एक हैं। भले ही हम मिन्योङ्, गालो, पासी, पादाम, बोरी, बोकार, कार्को, शिमोङ् आदि जनजातियों के नाम से जाने जाते हैं।.... हमारे जीवन की पद्धति में हम लोग सोलुङ्, मोपिन, रेह, न्योकुम, लोसर, द्री, सांकेत, मोल, लोकू, खान आदि त्योहारों को अलग-अलग ढंग से मनाते हैं, लेकिन इन सारे त्योहारों का संदेश एक है; इसलिए ये सारे त्योहार हम सबके हैं।" (पृ. 9)। अंक-13-14 में मिहिन कानिङ् की आपातानी कविता, 'म्योको दीतुङ्' (म्योको त्योहार) प्रकाशित की गई है, जिसके भावार्थकर्ता का नाम नहीं दिया गया है। यह भी उल्लेखनीय है, कि छठे अंक में आंतर भारती से

अलग असम के किंवदंती-पुरुष संगीतकार भूपेन हजारिका के साथ ही पुष्पा काकति और श्रीगोकुल काकति बायन की एक-एक असमीया कविता बिना हिंदी अनुवाद के प्रकाशित की गई है। इस प्रकार, अरुण नागरी का आंतरभारती कविता-आयोजन नागरी लिपि में विभिन्न भाषाओं के काव्य के प्रकाशन के साथ ही भारतीय साहित्य के लिए अध्ययन सामग्री उपलब्ध कराने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इससे जहाँ अरुणाचल की भाषाओं को लिखने के लिए नागरी लिपि की शक्ति-सामर्थ्य का पता चलता है, वहीं पूर्वोत्तर के भाषा-समाजों की सृजनात्मकता एवं उनके सांस्कृतिक-वैभव की आंशिक जानकारी भी मिलती है।

\+ + + + + +

अरुण नागरी का चौथा अंक (अक्तूबर-दिसंबर, 1995) 'शंकरदयाल सिंह स्मृति अंक' है। शंकरदयाल सिंह (27 दिसंबर, 1937 – 25 अक्तूबर, 1995) राजनीतिक क्षेत्र के प्रभावशाली व्यक्ति और लेखक होने के साथ ही संसद तथा संसद के बाहर हिंदी के प्रबल समर्थक के रूप में जाने जाते थे। इस अंक के संपादकीय में उनके व्यक्तित्व के विविध पक्षों का स्मरण किया गया है। इसके साथ ही उनके पाँच लेख प्रकाशित किए गए हैं- 'हिंदी अस्मिता और राष्ट्रीयता की भाषा', 'उन्हें भूल नहीं पाता', 'वे मुझे खंड-खंड में याद आते हैं', 'कुछ ख्यालों में कुछ ख्वाबों में' तथा 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य की अंतश्चेतना'। इनमें से पहला लेख उन्होंने विशेष रूप से अरुण नागरी (संपादक को उनके आकस्मिक निधन के कुछ दिन पूर्व ही 13 अक्तूबर, 1995 को प्राप्त) के लिए ही लिखा था।

\+ + + + + +

अरुण नागरी में अरुणाचल के समाज और संस्कृति को गहराई से समझने के लिए अनेक आलेखों का प्रकाशन भी किया गया। स्मरणीय है, कि 19.11.1995 को अरुणाचल विश्वविद्यालय द्वारा 'अनादि ट्राइबल आर्ट एंड कल्चर' विषय पर एक संगोष्ठी आयोजित की गई थी, जिसके उद्घाटन-सत्र में तत्कालीन राज्यपाल, माता प्रसाद जी ने जो भाषण दिया था, उसे अरुण नागरी के छठे अंक में प्रकाशित किया गया है। उस भाषण में अरुणाचल प्रदेश के आदिवासी समुदायों की संस्कृति और उनके विकास के संबंध में भारत के पहले प्रधानमंत्री, पंडित जवाहरलाल के पाँच सूत्रों का उल्लेख है। दरअसल, नेहरु ने तत्कालीन नेफा के प्रशासन के संबंध में असम के राज्यपाल के सलाहकार, वेरियर एल्विन की पुस्तक, 'फिलॉसफी फॉर नेफा' की भूमिका लिखी थी। इस पुस्तक के प्रथम संस्करण की भूमिका (16 फरवरी, 1957) में जवाहरलाल नेहरू ने इस बात पर बल दिया था, कि आदिवासी समुदायों और क्षेत्रों पर राजनैतिक और आर्थिक शक्तियाँ थोपी नहीं जानी चाहिए। इतना ही नहीं, इसी भूमिका में वे यहाँ तक कहते हैं, कि "जल्दबाज़ी में उनके ऊपर कोई चीज़ थोपी नहीं जानी चाहिए। इनमें परिवर्तन धीरे-धीरे आने देना चाहिए; जिससे वे स्वयं अपनी समस्याओं का निराकरण करते रहें" (माता प्रसाद की 'मनोरम भूमि अरुणाचल' पुस्तक के पृ. 297 पर प्रकाशित हिंदी अनुवाद से)। पंडित नेहरू ने वेरियर एल्विन की इसी पुस्तक के दूसरे संस्करण की भूमिका (9 अक्तूबर, 1958) लिखते हुए पुन: इस बात पर बल दिया, कि 'आदिवासी क्षेत्रों का विकास मंद गति से न हो, किंतु अति-प्रबंधन से बचा जाए।' (वही, पृ. 298)। इसी भूमिका में वे पाँच सूत्र दिए, जिन्हें अरुणाचल विश्वविद्यालय की संगोष्ठी में पढ़ कर सुनाया गया और अरुण नागरी में प्रकाशित किया गया। ये सूत्र इस प्रकार हैं-

1. लोगों को अपनी प्रतिभा के सहारे प्रगति करनी चाहिए। उन पर हमें कुछ थोपना नहीं चाहिए। उनकी पारंपरिक कला और संस्कृति को बढ़ावा देने का प्रयास करना चाहिए।
2. जनजातियों के भूमि और वन के संबंध के में प्राप्त जनजातीय अधिकारों का हमें सम्मान करना चाहिए।
3. उनके ही लोगों के बीच से एक टीम को, प्रशासन और विकास-कार्य के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए। नि:संदेह आरंभ में कुछ तकनीकी व्यक्तियों को बाहर से लाना चाहिए तो भी इन क्षेत्रों में बहुत अधिक बाहरी लोगों को नहीं लगाना चाहिए।
4. हमें इन क्षेत्रों में योजनाओं का अधिक बोझ नहीं लादना चाहिए। हमें इनके सामाजिक और शैक्षणिक क्षेत्रों में प्रतिद्वंद्विता की भावना से नहीं, बल्कि सहयोग की भावना से कार्य करना चाहिए।
5. हमें सांख्यिकी या खर्च किए गए धन के आधार पर उपलब्धियों का आकलन नहीं करना चाहिए, वरन मानवीय गुणवत्ता की प्राप्ति के आधार पर परिणाम का मूल्यांकन करना चाहिए।

(अरुण नागरी, अंक-6, पृ. 19)

वेरियर एल्विन की किताब अंग्रेज़ी में थी, इसलिए भारत की अधिसंख्य जनता को नेहरु के इन सूत्रों के बारे में पता चलना कठिन था, जबकि हिंदी की पुस्तक, मनोरम भूमि अरुणाचल और पत्रिका, अरुण नागरी ने इन्हें बड़े स्तर पर प्रचारित किया तथा यह भी बताया, कि अरुणाचल के आदिवासी-क्षेत्रों के जीवन और विकास के लिए प्रस्तुत ये सूत्र न केवल अरुणाचल, बल्कि संपूर्ण भारत के आदिवासी-समुदायों के संदर्भ में प्रासंगिक हैं।

आदिवासी समुदाय प्रकृति पर आश्रित होते हैं। उसी की गोद में, उसी से प्राप्त स्रोतों से उसका जीवन संभव होता है, अंत: वे उसके प्रति भावनात्मक लगाव, आस्था और पूजा-भाव रखते हैं। 'अरुणाचल प्रदेश में प्रकृति पूजन' शीर्षक लेख में वैद्यनाथ सिंह कहते हैं- "अरुणाचल के मूल निवासियों में प्रकृति अपने विभिन्न रूपों में धार्मिक प्रेरणा की स्रोत रही है। लोगों की प्रतिक्रियाएँ, आदर, भय, उत्सव, आश्चर्य, कौतूहल, जिज्ञासा आदि रूपों में दृष्टिगत होती है। सूर्य और चंद्रमा का प्रभाव जीवन के अस्तित्व के लिए प्रेरणादायक और भयावह, दोनों होता है, अंत: तानी समुदाय की जनजातियाँ दोन्यी (सूर्य) और पोलो (चंद्रमा) पर आधारित एक अद्वितीय विश्वास की पोषक बन गई हैं।" (अंक-9-12, पृ. 39)। दोन्यी-पोलो संबंधी यह विश्वास केवल तानी समूह में ही नहीं, बल्कि कुछ भिन्न रूप में अन्य समुदायों में भी पाया जाता है। वीरेंद्र कुमार सिंह ने 'दोन्यी-पोलो की अवधारणा' शीर्षक लेख में बताया है- "'दोन्यी-पोलो' की सत्ता में अधिकांश जनजातियाँ विश्वास करती हैं। लेकिन दोन्यी-पोलो की अवधारणा के संबंध में मतभेद है। सामान्यत: इसे सूर्य और चंद्रमा का प्रतीक माना जाता है। दोन्यी-पोलो को सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, सर्व हितकारी और सर्वांतरयामी माना जाता है।" (अंक-2, पृ. 22)।

अरुण नागरी के प्रवेशांक में 'दो मिनियोड् पुरा कथाएँ' शीर्षक के अंतर्गत सृष्टि-निर्माण संबंधी दो पुरा-कथाएँ प्रकाशित हुई हैं। इन्हें भारती वर्मा ने वेरियर एल्विन द्वारा संग्रहीत करके अंग्रेज़ी में लिखी गई पुरा-कथाओं में से चुन कर हिंदी में अनूदित किया है। इनमें से एक में पृथ्वी पत्नी है और आकाश पुरुष। कभी ये दोनों पास-पास ही रहते थे, लेकिन एक दिन मिथुन नामक पवित्र-पशु ने अपने सींगों से आकाश को ऊपर उछाल दिया, जिससे वह बहुत ऊपर चला गया। एक समय जब पत्नी पृथ्वी की इच्छा अपने पति आकाश से मिलने की हुई,

तो उसने अपना शरीर ऊपर की ओर उठाना प्रारंभ किया। उसी समय दोन्यी-पोलो के आकर उपस्थित हो जाने से प्रकाश फैल गया। इससे पृथ्वी को भारी लज्जा हुई। कहा जाता है, कि उसके जो अंग अन्य से अधिक ऊपर उठ गए थे, वे वैसे-के-वैसे ही रह गए। वे ही इस पृथ्वी पर पर्वत बन गए। धर्मराज सिंह ने 'सृष्टि निर्माण के संबंध में गालो जनजाति के लोगों का विश्वास' शीर्षक लेख में एक कथा का उल्लेख किया है- "सृष्टि के आरंभ में केवल घने बादल, जिन्हें इनकी भाषा में 'पांब्' कहते हैं और कोहरा, जिन्हें ये लोग 'पाम्बा' कहते हैं, सब जगह छाए हुए थे। समय बीतने के साथ-साथ धीरे-धीरे इन दोनों का कुछ हिस्सा कड़ा होने लगा। बादलों का परिवर्तित यह भाग उसका पेट बन गया और कुहरे का परिवर्तित कठोर भाग उसका वीर्य बन गया। समय के साथ-साथ ये दोनों अंग एक-दूसरे की ओर आकर्षित होने लगे। एक दिन ऐसा हुआ, कि ये नए दोनों अंग एक-दूसरे से चिपक गए। दोनों के संयोग के परिणामस्वरूप कालांतर में पृथ्वी (हिसी) और आकाश (मेदो) का जन्म हुआ। दोनों एक साथ रहने लगे और धीरे-धीरे उनमें विकास होने लगा। दोनों अंडाकार (तार्पी)- एक तरह के स्थानीय फल की तरह ही थे। दोनों की बाह्य परिधि अंधेरे में जुगनू की तरह चमकती थी। इनमें पृथ्वी पुरुष और आसमान स्त्री थे। पुन: पृथ्वी (हिसी) और आकाश (मेदो) के संयोग से सृष्टि की आदि-माता, 'जीमी आने' और आदि-पुरुष 'ओपो ताको' का जन्म हुआ।" (अंक- 9-12, पृ. 32)। इसके पश्चात इस पुरा-कथा में बताया गया है, कि जीमी आने और ओपो ताको के बीच उपजे आकर्षण के फलस्वरूप सूर्य, चंद्रमा, यक्ष, स्त्री की अजस्र-शक्ति, पशु-पक्षियों तथा ऋतुओं की उत्पत्ति हुई।

भारती वर्मा ने अरुण नागरी के अंकों में अरुणाचल के समाज और संस्कृति के संबंध में निरंतर लिखा। 'सिमोङ् जनजाति में पारिवारिक व्यवस्था' शीर्षक लेख में वे एक स्थान पर लिखती हैं- "सिमोङ् जनजाति की पारिवारिक व्यवस्था पितृ-सत्तात्मक है। परिवार के सभी सदस्य पिता की आज्ञा का पालन करते हैं। पुत्रों के जवान होने पर प्राय: परिवार बँट जाते हैं, अंत: अधिकांश परिवार एकल-परिवार हैं। पिता अगर चाहे, तो अपने पुत्रों को उत्तराधिकार के अधिकार से वंचित कर सकता है।" (अंक-2, पृ. 27)। यह आदिवासी समुदाय अरुणाचल की 'आदी' जनजाति के 'मिन्योङ्' वर्ग के अंतर्गत आता है और परिवार संस्था में मामा का महत्त्व अनेक संदर्भों में अधिक माना जाता है। भारती वर्मा ने बताया है, कि "सिमोङ् जाति के परिवार में मामा का विशेष महत्त्व है। वहाँ मामा, अर्थात माँ के भाई को ही व्यक्ति का वास्तविक शुभचिंतक माना जाता है। कुछ विशेष मामलों में तो वह पिता से भी अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। उदाहरण के लिए यदि किसी व्यक्ति के साथ मार-पीट की घटना हो, तो भले ही यह कार्य उसके पिता ने ही क्यों न किया हो, उस व्यक्ति के मामा उसकी तरफ से दोषी व्यक्ति के विरुद्ध 'केबाङ्', अर्थात परंपरागत रीति से मुकद्दमा शुरु करेंगे और अपने भांजे को न्याय दिलाने का भरपूर प्रयास करेंगे।" (वही, पृ. 28)।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पारिवार नामक संस्था की दृष्टि से जहाँ सिमोङ् जनजाति में एकल-परिवारों का आधिक्य पाया जाता है, वहीं वीरेंद्र कुमार सिंह ने अपने लेख, 'शेरदुक्पेन जनजाति : संक्षिप्त परिचय' में सूचित किया है, कि शेरदुक्पेन-समुदाय संयुक्त परिवार व्यवस्था वाला जनजाति-समुदाय है। वे शेरदुक्पेन जनजाति की परिवार व्यवस्था के विषय में लिखते हैं- "शेरदुक्पेन समाज पितृसत्तात्मक है। पिता ही परिवार के सभी दायित्वों का वहन करता है। उसकी अनुमति के बिना परिवार का कोई सदस्य किसी प्रकार का फैसला नहीं कर सकता है। इस समाज में संयुक्त परिवार की प्रधानता है।" (अंक- 9-12, पृ. 20)।

आदिवासी समुदायों में स्त्री की स्थिति और भूमिका हमेशा से मानव-विज्ञानियों और समाजशास्त्रियों के अध्ययन का विषय रही है। आधुनिक युग में नव-विकसित स्त्री-अध्ययन नामक ज्ञानानुशासन में इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है। अरुण नागरी में प्रकाशित अनेक लेखों में प्रसंगवश स्त्री की स्थिति का उल्लेख प्राप्त होता है, लेकिन एक ही साथ अनेक जनजातियों की परिवार और समाज व्यवस्था में स्त्री की यथार्थ स्थिति का पता वीरेंद्र कुमार सिंह के, 'अरुणाचल प्रदेश में महिलाओं की स्थिति' शीर्षक लेख से चलता है। यह लेख अरुण नागरी के पाँचवें अंक में (पृ. 26-31) प्रकाशित हुआ है। इससे चुने गए कुछ उद्धरण एक ही स्थान पर देखें-

- "आदी समुदाय के अन्य वर्ग की अपेक्षा गालो समुदाय की लड़कियों पर अत्यधिक प्रतिबंध होता है। उनके बाहर आने-जाने पर नज़र रखी जाती है तथा माता-पिता अपनी लड़कियों की गतिविधियों पर नियंत्रण रखते हैं।" (पृ. 28)।

- "पादाम समुदाय की लड़कियों को गालो वर्ग की लड़कियों से अधिक स्वतंत्रता प्राप्त है। इस समुदाय की लड़कियों का अपना अलग शयनागार होता है, जिसे 'रासेंग' कहा जाता है। रासेंग में लड़कियाँ अपने प्रेमियों से मिल सकती हैं और स्वेच्छा से अपने जीवन साथी का चयन कर सकती हैं।" (पृ. 27)।

- आपातानी समाज में महिलाओं को सामाजिक और राजनैतिक मामलों में भाग लेने का अधिकार नहीं है। इस समाज में नारियों को कुछ अधिक स्वतंत्रता तो प्राप्त है, लेकिन उनकी बुद्धि को पुरुषों की बुद्धि से प्राय: हीन समझा जाता है।" (28)।

- "निशिंग समाज में महिलाओं को अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता प्राप्त है। जो लड़की मेहनती और बुद्धिमान है, उसे यह स्वाधीनता है, कि वह अपनी रुचि के अनुसार अपना जीवन व्यतीत कर सकती है। विधवा को पुनर्विवाह की छूट है। यदि कोई कम उम्र की महिला विधवा हो जाती है, तो समाज उसे यह अधिकार देता है, कि अपनी पसंद के अनुसार वह किसी भी पुरुष के साथ शेष जीवन व्यतीत कर सकती है।"(पृ. 29)।

लेखक के इस अध्ययन में यह संकेत छिपा हुआ है, कि उसने जिन आदिवासी समुदायों की स्त्रियों के बारे में जानकारी दी है, उनके बारे में शोधपरक अध्ययन के अनेक अवसर हैं और यह भी, कि इसे (लेखक के प्रस्ताव के बावजूद) अरुणाचल के सभी आदिवासी समुदायों की स्त्रियों पर लागू करना उचित नहीं होगा। इस अध्ययन में यह भी पता चलता है, कि कुछ आदिवासी समुदायों ने अपनी ओर से स्त्री को प्रेम और विवाह के संदर्भ में स्वयं निर्णय लेने की स्वतंत्रता प्रदान की है। इसी के साथ विधवा-विवाह प्रचलन में है, इससे भी आगे बढ़कर कुछ आदिवासी समुदाय स्त्री को विधवा हो जाने पर अपनी इच्छा के अनुकूल पुरुष के साथ जीवन बिताने की स्वतंत्रता देते हैं, ऐसा निर्णय करने पर उसकी सामाजिक मर्यादा को कोई नुकसान नहीं पहुँचता। इसी के साथ यह जान लेना भी आवश्यक है, कि कुछ आदिवासी समुदायों में बहुपत्नी रखने, अर्थात बहुविवाह जैसी सामाजिक कुप्रथा को कोई सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है। आदिवासी समुदायों में स्त्री घर और गाँव की आर्थिक गतिविधियों से अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है, कोई भी धार्मिक कृत्य उसके बिना प्राय: संपन्न नहीं होता, इसके बावजूद कहीं-कहीं स्त्री को गाँव-पंचायतों के कार्यों में निर्णायक भूमिका से वंचित किया जाता है और

कहीं-कहीं उसे बौद्धिक दृष्टि से पुरुष के संदर्भ में दोयम दर्जे का माना जाता है। स्त्री के संदर्भ में आदिवासी-समुदायों का यह जीवन-यथार्थ हमारी नागरिक संस्थाओं (सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक) के अस्तित्व में आने से बहुत पुराना है। इसलिए यह सहज ही हमारे आधुनिक स्त्री-चिंतन, उससे संबंधित अवधारणाओं और शोध योजनाओं के समक्ष चुनौती है। अरुणाचल की स्त्रियों के संबंध में अध्ययन का एक पक्ष इस प्रदेश के जीवन में आधुनिक शिक्षा, प्रौद्योगिकी, सूचना-संचार, बाज़ार के विस्तार और नवीन आर्थिक-सामाजिक परिवर्तनों के हस्तक्षेप से जुड़ा हुआ भी है। वर्तमान में स्थानीय शिक्षण-संस्थानों में स्त्रियों की उपस्थिति उत्साहजनक है, संख्या में कम ही सही, किंतु उन्हें अपने देश और विश्व के श्रेष्ठतम शिक्षा-केंद्रों में अध्ययन करते देखा जाने लगा है, वे खेल, लेखन, वैज्ञानिक-शोध, चिकित्सा, पत्रकारिता, मनोरंजन, फैशन और सौंदर्य जैसे क्षेत्रों में आगे आने लगी हैं। उनमें धीरे-धीरे राजनैतिक चेतना का विकास हो रहा है, वे पर्यावरण और जल-जंगल-ज़मीन से जुड़े जनांदोलनों में भाग लेने लगी हैं और अपने ही समुदाय के सामाजिक-जीवन की बुराइयों के विरूद्ध आवाज़ भी उठाने लगी हैं। यह भविष्य में होने वाले एक बड़े परिवर्तन की भूमिका है, जिसकी ओर समाज वैज्ञानिकों का ध्यान जाना चाहिए।

राजनीतिशास्त्र के भारतीय अध्येताओं में से अनेक ने अब यह मान लिया है, कि हमारे देश की वर्तमान पंचायत-प्रणाली के निर्णायक-सूत्र भारत के आदिवासी समुदाय में प्राचीन-काल से व्यापक रूप में प्रचलित पंचायत व्यवस्था में छिपे हैं। अरुण नागरी के सक्रिय लेखक और पूर्वोत्तर के जन-जीवन के अध्ययन में गहरी रुचि रखने वाले, वीरेंद्र कुमार सिंह ने 'अरुणाचल का लोक जीवन' लेख में 'केबाङ्' का परिचय दिया है- "'केबाङ्' अरुणाचल के जन-जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह इस प्रदेश की अत्यंत प्राचीन पंचायती व्यवस्था है, जिसमें आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक सभी विवादों का निपटारा किया जाता है। यह गाँव की पूरी शासन-व्यवस्था के लिए उत्तरदायी होता है। ग्राम-प्रधान को 'गाँव बूढ़ा' के नाम से जाना जाता है। 'गाँव-बूढ़ा' बहुत सम्मानित व्यक्ति होते हैं, जिनके निर्णयों की आलोचना नहीं की जा सकती। विभिन्न जनजातियों में केबाङ् के भिन्न-भिन्न नाम हैं।" (अंक-3, पृ. 10)। लेखक ने अपने एक अन्य लेख, 'शेरदुक्पेन जनजाति : संक्षिप्त परिचय' में इस जनजाति की परंपरागत पंचायत के ढाँचे का परिचय प्रस्तुत किया है, जो हमारी वर्तमान पंचायत व्यवस्था और लोकतंत्र के जानकारों की आँखें खोलने वाला है- "प्रत्येक शेरदुक्पेन गाँव में एक ग्राम परिषद होती है, जो आंतरिक प्रशासन एवं ग्राम-सुरक्षा के लिए उत्तरदायी होती है। इसके सभी सदस्य अवैतनिक होते हैं। परिषद का प्रधान होता है, उसे 'थिक अखाव' कहते हैं। 'जंग में' (परिषद सदस्य) काचंग तथा चौकीदार प्रशासन के कार्यों में थिक अखाव अथवा ग्राम प्रधान की सहायता करते हैं।" (अंक-9-12, पृ. 21)। इसी आलेख में थिक अखाव के निर्वाचन, उसे पद से हटाने और नए थिक अखाव के चयन का उल्लेख भी किया गया है- "आम सभा में सभी ग्रामवासी ग्राम प्रधान या थिक अखाव का चुनाव करते हैं। पद वंशानुगत नहीं है। यदि थिक अखाव ग्रामवासियों का विश्वास खो देता है, तब गाँववासी उन्हें हटा कर नए थिक अखाव का चुनाव करते हैं।" (वही, पृ. 21)। यह ग्राम-परिषद यातायात-सुविधा की व्यवस्था और सामाजिक-धार्मिक उत्सवों के आयोजन का कार्य भी करती है।

अपने एक लेख, 'अरुणाचल में बाल जन्म के समय रीति-रिवाज' में मनहंस कुमार 'नील' ने बालक के जन्म और नामकरण के अवसर पर प्रचलित प्रथाओं के बारे में कहा है कि अरुणाचल के आदिवासी समुदायों

में "पुजारियों के निर्देशानुसार ही नवजात बच्चे के संस्कार पूरे किए जाते हैं। बच्चे का नामकरण मामा करता है। पुजारी भी नामकरण कर सकता है।" (अंक-9-12, पृ. 30)। वे कुछ जनजातियों के बारे में विशेष रूप से भी बताते हैं। उदाहरण के लिए "शेरदुक्पेन समाज में बच्चा जब तीन दिन का हो जाता है, तब उसका नामकरण किया जाता है। बच्चे का उचित नाम निकालने के लिए पुजारी बच्चे की जन्म-तिथि के आधार पर पवित्र पुस्तक से फल निकालता है। उसी फल को पढ़कर या समझ कर ही पुजारी बच्चे का नामकरण करता है..... शेरदुक्पेन लोग बच्चे को सूर्य-दर्शन भी कराते हैं।" (वही, पृ. 30)। इसी प्रकार नोक्ते आदिवासी समुदाय की प्रथा के विषय में वे बताते हैं, कि "नोक्ते लोगों में भी पुजारी तथा भविष्यवक्ताओं को सम्मान दिया जाता है। नामकरण के समय अनुमानकर्ता स्वर्गीय व्यक्तियों के नामों पर विचार करते हैं।... इसी तरह नोक्ते लोग भी बच्चे को प्रकृति के दर्शन कराते हैं। माँ, वृद्ध महिलाएँ तथा युवा लड़कियाँ बच्चे को लेकर खेत को जाती हैं। वहाँ वे पूजा-गान करती हैं।" (वही, पृ. 30)।

विवाह संबंधी प्रथाओं की जानकारी की दृष्टि से विनोद कुमार मिश्र का लेख, 'आदी जनजाति की विवाह पद्धति' ध्यान आकर्षित करता है। उन्होंने पादाम (पादाम मिन्योङ् वर्ग की उप-जनजाति) की विवाह-पद्धति के विषय में कहा है, कि "लड़के की माँ एक बाँस की नली में आपोङ् तैयार करती है। इस भेंट को लेकर वह लड़की के घर जाती है तथा अपने लड़के की ओर से वह लड़की अथवा उसकी माँ के सामने शादी का प्रस्ताव रखती है। यदि भेंट स्वीकार कर ली जाती है, तो समझा जाता है, कि प्रस्ताव मंजूर है।" (अंक-5, पृ. 35)। वे गालो (गालो वर्ग की उप-जनजाति) के बारे में कहते हैं- "जब कोई लड़का अथवा उसके माँ-बाप किसी लड़की से शादी करने के लिए इच्छुक होते हैं, तो वे किसी मध्यस्थ को लड़की के घर भेजते हैं। जब मध्यस्थ की बातों पर कुछ दिनों तक ध्यान नहीं दिया जाता और कन्या-पक्ष की ओर से कोई जवाब नहीं आता, तो लड़का अपने पिता तथा कुछ संबंधियों को लेकर लड़की के घर जाता है। साथ में वह आपोङ् और मांस भी ले जाता है। वर पक्ष के लोग कन्या पक्ष के सामने परोक्ष रूप से शादी का प्रस्ताव रखते हैं। अगर प्रस्ताव स्वीकार करना होता है, तो लड़की का पिता लाई हुई भेंट को स्वीकार कर लेता है।" (वही, पृ. 36)। त्युत्सा जनजाति में प्रचलित विवाह पद्धति के संबंध में धर्मराज सिंह ने अपने एक लेख, 'त्युत्सा जनजाति' में जो जानकारी दी है, वह आदिवासी जीवन का अध्ययन करने वाले समाज वैज्ञानिकों को यह बताने के लिए पर्याप्त है, कि उन्हें उसका विश्लेषण आधुनिक नागर-समाज की परंपराओं के मूल स्रोतों को खोजने व समझने की दृष्टि से भी करना चाहिए। त्युत्सा जनजाति पता नहीं कब से विवाह को जैविक गुणवत्ता के साथ ही स्त्री की निर्णय-स्वाधीनता से जोड़ कर देखती आ रही है। धर्मराज सिंह कहते हैं- "एक उपजाति की शादी पूर्व निश्चित चार-पाँच उपजातियों में ही हो सकती है। लेकिन अपनी ही उपजाति में शादी वर्जित है। ऐसा करने वाला व्यक्ति समाज से निकाल दिया जाता है और उसे जुर्माना किया जाता है।" (अंक- 13-14, पृ. 26)। इसके आगे वे बताते हैं- "जब किसी लड़के के माँ-बाप लड़की के माँ-बाप के घर जाकर उनसे उनकी लड़की को अपने लड़के के लिए माँगते हैं, लड़की के माँ-बाप उन्हें यह कह कर विदा करते हैं, कि वे अपनी लड़की के विचार जान कर ही इस प्रस्ताव की स्वीकृति देंगे।" (वही, पृ. 26)। त्युत्सा जनजाति में विवाह की विधि में कोई जटिलता नहीं है- "शादी के दिन लड़के के माँ-बाप गोरु, सूअर और मुर्गे की बलि चढ़ा कर उनका मांस पकाते हैं और लड़की के माँ-बाप तथा अन्य सगे संबंधियों को आमंत्रित करते हैं। लड़का और लड़की अगल-बगल बैठते हैं और एक ही पात्र में दोनों

एक साथ खाना खाते हैं। एक ही मांस के टुकड़े को एक बार लड़का फिर लड़की, एक दूसरे का जूठा खाते हैं। इस प्रकार उनकी शादी संपन्न हो जाती है।" (वही, 27)। विवाह के संदर्भ में एक अति महत्त्वपूर्ण तथ्य वीरेंद्र कुमार सिंह ने अपने लेख, 'शेरदुक्पेन जनजाति : संक्षिप्त परिचय' में प्रस्तुत किया है, जिसे भारत के समाज-सुधार आंदोलनों के अंतर्गत विवाह के साथ जुड़ी कुरीतियों के विरोध की दृष्टि से जान लेना उपयोगी होगा। वे कहते हैं, कि शेरदुक्पेन आदिवासी समुदाय में "एक विवाह का विधान सख़्ती से लागू है। बहुपति विवाह और बहुपत्नी विवाह मान्य नहीं है। किसी भी स्थिति में एक पुरुष एक ही समय में दो पत्नियाँ नहीं रख सकता है। विधवा-विवाह सामाजिक मान्यता प्राप्त है। समाज विधवा-विवाह को हेय नहीं समझता है।" (अंक- 9-12, पृ. 20)।

व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर आदिवासी समुदायों में पालन की जाने वाली परंपराओं का कई लेखों में उल्लेख प्राप्त होता है। 'दिरांग मोनपा' लेख में अरुण कुमार पांडेय ने अरुणाचल की 'मोङ्पा'(कुछ लेखकों ने मोंपा या मनपा भी लिखा है) जनजाति में मृत्यु के अवसर पर प्रचलित विधि-विधान का वर्णन किया है। वे कहते हैं- "ये लोग मरने के बाद लाश को लामा से पूछ कर या तो नदी में 108 टुकड़ा काट कर फेंक देते हैं या जला देते हैं। उस मरी हुई आत्मा की शांति के लिए कई दिनों तक कई चक्रों में पूजा करते हैं। मरने की तिथि से हर सातवें दिन लामा पूजा करता है। इस प्रकार 7 चक्रों में पूजा जाकर खत्म हो जाती है। मृत्यु संस्कार का प्रदोष 49 दिन तक रहता है। उसके बाद सभी लोग प्रदोष मुक्त होते हैं। मोनपा जब लाश को टुकड़ा करके फेंकता है, तब उस नदी की मछलियों को नहीं खाता। मोनपा लाश को टुकड़ा करके नदी के जानवरों को दान रूप में सौंपता है। मोनपा के अनुसार दान की गई वस्तु फिर ग्राह्य नहीं होती।" (अंक- 9-12, पृ. 28)। इसी जनजाति की मृत्यु संबंधी परंपरा को केंद्र में रख कर प्रसिद्ध लेखक, येसे दरजे थोङ्छी ने असमीया भाषा में, 'शव कटा मानुह' उपन्यास लिखा है, जिसका दिनकर कुमार ने 'शव काटने वाला आदमी' शीर्षक से हिंदी में अनुवाद किया है।

अरुण नागरी के विभिन्न अंकों में 'आदी (मिन्योङ) त्योहार' (भारती वर्मा, अंक-3), 'मिन्योङ् जन का पर्व- उनिङ' (मनहंस कुमार 'नील', अंक-6), 'आत्मिक शुद्धता का पर्व 'दिरी'' (त्रिभुवन लाल श्रीवास्तव, अंक-6), 'रेह-पूजा से जुड़े इदू-मिश्मी' (कृष्णेश्वर शर्मा, अंक-9-12) आदि लेख प्रकाशित हुए, जिनमें अरुणाचल के अनेक आदिवासी समुदायों के न्युकुम, सिरोम मोलो सोचुम,सोलुङ्, आरान्, एतोर, दोरुङ्, रेह आदि पर्व-त्योहारों की जानकारी प्रस्तुत की गई। इसके अतिरिक्त 'शेरदुक्पेन जनजाति : संक्षिप्त परिचय' (वीरेंद्र कुमार सिंह, अंक-9-12) में लोसर और छेकर त्योहारों का परिचय भी प्राप्त होता है। इनके बारे में दिए गए विवरण से पता चलता है, कि ये मुख्यत: कृषि-पर्व हैं या देवताओं को प्रसन्न करने वाले पर्व-त्योहार हैं। उदाहरण के लिए "न्युकुम या न्योकुम : न्युक = संपूर्ण पृथ्वी + उम = एक स्थान पर एकत्र करना। पृथ्वी के समस्त देवताओं का एक स्थान पर आह्वान करके उत्सव मनाना। इसमें मुख्य पुजारी शुभ आत्माओं और सहायक पुजारी दुष्ट आत्माओं की पूजा करता है। पूजा के साथ नृत्य भी किया जाता है" और "सिरोम मोलो सोचुम : कृषि-पर्व है। सभी एक-दूसरे को फसल अच्छी होने की शुभकामना देते हैं। ग्रामवासी एक स्थान पर एकत्र होते हैं। गायक निशि समुदाय का इतिहास गा कर सुनाता है। कृषि की देवी को प्रसन्न किया जाता है।" (भारती वर्मा)। आपातानी त्योहार 'दिरी' के विषय में एक किंवदंती प्रचलित है- "प्राचीन काल में एक समय की बात है कि अच्छी और स्वस्थ धान की फसलें एकाएक सूखने लगीं और बाद में पता चला कि उन्हें कीड़े-मकोड़े खा रहे

हैं।... अगले वर्ष भी इसी कारण फसलों का यह नुकसान पूर्ववत रहा। उसके बाद खेती के सलाहकारों 'अबा-लिबो' और 'आने-डोनी' ने 'अबुतानी' को सलाह दी कि इन कीड़े-मकोड़ों को मारने के लिए 'दिरी' का आयोजन किया जाए। 'अबूतानी' ने पुजारी की नियुक्ति की, जिन्होंने 'दिरी-पारो-यारी-अम्की' से प्रार्थना की, कि वे सारे कीड़े-मकोड़े को चट कर जाएँ और फसलों की रक्षा करें।" (त्रिभुवन लाल श्रीवास्तव)। इसी प्रकार इदु-मिश्मी आदिवासी समुदाय के 'रेह' नामक त्योहार के बारे में भी कई किंवदंतियाँ प्रचलित हैं, जिनमें से एक में कहा गया है, कि "पृथ्वी खाली थी। पेड़-पौधा नहीं था। एक अदमा (नारी) को सूर्य भगवान की शक्ति प्राप्त हुई। वह पहाड़ पर चढ़ रही थी। चढ़ने के समय हवा के कारण साड़ी खुल गई। वह गर्भवती हुई। हवा ने कहा कि तुम्हें यहीं बच्चा छोड़ कर जाना पड़ेगा। लड़का हुआ। इसी भाँति एक के बाद एक कई बच्चे हुए। बच्चे अपने खाने-पीने का सामान परिश्रम से जुटाने लगे। पुन: सूर्य भगवान ने एक लड़की दी और कहा, कि खेती करनी होगी। अब सृष्टि का विधिवत संचालन होने लगा। धीरे-धीरे काफी अर्से बाद आदमी में छल, प्रपंच, बेईमानी, चोरी जैसे कुकृत्य आने लगे। पापाधिक्य के परिणामस्वरूप पृथ्वी पानी से भर गई। लोगों ने सूर्य भगवान से बड़ी विनती की। फलस्वरूप पानी कम हुआ। पुन: खेती शुरु हुई।" (कृष्णेश्वर शर्मा)। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि लेखक ने अपने लेख में यह किंवदंती एक गाँव के अति वृद्ध सज्जन से सुन कर लिखने का दावा किया है, किंतु स्त्री के अधोवस्त्र के रूप में साड़ी का उल्लेख किया है, जो अरुणाचल के आदिवासी समुदायों के परिधान के संदर्भ में स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। संभव है, आदिवासी वृद्ध ने जिस शब्द का प्रयोग किया हो, उसे लेखक ने न समझा हो और अपने मन से साड़ी लिख दिया हो। इस संभावित दोष को छोड़ दिया जाए, तो यह किंवदंती त्योहार की प्रकृति को समझने में हमारी सहायता करती है। अरुण नागरी के अंक 13-14 में 'लोक नृत्य' (वीरेंद्र कुमार सिंह) शीर्षक लेख का प्रकाशन हुआ, जिसके सात पृष्ठों की सामग्री में से ढाई पृष्ठ लोक-नृत्य और उनके वर्गीकरण को दिए गए हैं, शेष साढ़े चार पृष्ठों में न्यिशी, तागिन, आपातानी, हिलमीरी, वांचू, नोक्ते, तांग्सा, सिंग्फो, आका, मीजी, खाम्ती और मिश्मी आदिवासी समुदायों के लोक नृत्यों के बारे में टिप्पणियाँ की गई हैं। समझना कठिन नहीं है, कि इसे पढ़ कर अरुणाचल के लोक नृत्यों का कोई स्पष्ट चित्र नहीं उभरता।

अरुणाचल प्रदेश में एक पौराणिक महत्त्व का स्थान है, 'मालिनीथान'। इसके साथ महाभारत काल की एक कथा जुड़ी हुई है। कहा जाता है, कि "श्रीकृष्ण की शादी राजा भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी से हुई थी, शादी के बाद भीष्मक नगर से द्वारिका वापस जाते समय श्रीकृष्ण और रुक्मिणी ने इसी स्थान (मालिनीथान) पर आराम किया था। इस स्थान पर शंकर अपनी पत्नी पार्वती के साथ रहते थे। श्रीकृष्ण और रुक्मिणी जैसे विशिष्ट अतिथियों के स्वागतार्थ पार्वती ने सबसे सुंदर फूलों की माला स्वयं बनाई और इसे श्रीकृष्ण को पहनाया। इस माला के सौंदर्य से श्रीकृष्ण बहुत आकर्षित हुए और प्रशंसा तथा परिहास की मुद्रा में उन्होंने पार्वती को मालिन (मालिनी) कह कर संबोधित किया। तब से ही इस स्थान विशेष का नाम मालिनीथान (मालिनी स्थान) पड़ा।" यह उल्लेखनीय है, कि पौराणिक विश्वास के अनुसार कृष्ण ने रुक्मिणी का हरण किया था, जबकि इस कथा में केवल विवाह की बात कही गई है। मालिनीथान के निकट ही लीकाबाली नामक स्थान के पास एक अन्य पौराणिक स्थल, 'आकाशी गंगा' है। इसके बारे में कालिका पुराण में एक कथा आती है। उस कथा के अनुसार "सती (पार्वती) के मृत शरीर को अपने कंधों पर लेकर शंकर भगवान पागल की अवस्था में घूम रहे थे और भगवान विष्णु अपने सुदर्शन चक्र से सती के विभिन्न अंगों को काट कर गिराते जा रहे थे। इसी क्रम में सती

(पार्वती) का सिर 'आकाशी गंगा' के आस-पास कहीं गिरा। 'आकाशी गंगा' उस जल प्रपात का व्यंजक है, जो खड़े पहाड़ से सीधे नीचे गिरता है।..... मालिनी थान आने वाले तीर्थयात्री आकाशी गंगा में पवित्र स्नान करने जाते हैं।" ये दोनों पौराणिक कथाएँ धर्मराज सिंह के 'मालिनी थान : एक दृष्टि' शीर्षक लेख में वर्णित हैं, जो अरुण नागरी के छठे अंक (पृ. 20-22) में प्रकाशित हुआ। इस लेख का अति महत्त्वपूर्ण भाग मालिनीथान के बारे दी गई पुरातात्विक जानकारी से संबंधित है। लेखक ने उल्लेख किया है, कि 'बीसवीं शताब्दी के शुरू में ही कभी पासीघाट के सहायक पॉलिटिकल ऑफिसर डब्ल्यू. एच. कलबर्ट ने मालिनीथान की स्थिति का पता लगाने की योजना पर कार्य किया था। इसके बाद सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य 1965-66 में अरुणाचल (तत्कालीन नेफा) के शोध-विभाग के उप-निदेशक, एल. एन. चक्रवर्ती ने किया। उन्होंने मालिनीथान में खुदाई करवाई, जिसमें हिंदू देवी-देवताओं, नृत्यरत अप्सराओं तथा पशु-पक्षियों की मूर्तियाँ निकलीं। सन् 1971 में यहीं एक टीले की खुदाई करवाई गई। बारह मार्च से 14 जून तक चली इस खुदाई में गणेश का मंदिर, एरावत पर इंद्र, मयूर पर कार्तिकेय, वीणाधारण किए सरस्वती, दुर्गा, नांदी और मंदिर के चार कोनों पर हाथियों पर सिंह आदि की मूर्तियाँ प्राप्त हुईं।' इस पुरातात्विक जानकारी के बाद भी, शिलालेख आदि प्रमाणों के अभाव में लेखक इस प्रश्न के विवेचन से दूर ही रहता है, कि ये मंदिर और मूर्तियाँ किसने निर्मित करवाई होंगी तथा इनका संबंध वास्तव में किस काल से है? फिर भी वह यह निष्कर्ष अवश्य देता है कि, "भारत की विभिन्न संस्कृतियों का मेल यहाँ हुआ है। भारत के विभिन्न राज्यों के लोग यहाँ समय-समय पर आते रहे हैं और उनके साथ यहाँ के लोगों (अरुणाचल प्रदेश के निवासियों) का संबंध रहा है।...यह क्षेत्र बहुत पहले हिंदू धर्मावलंबियों की कला तथा संस्कृति के प्रभाव से प्रभावित था।"(अंक-6, पृ. 22)। इस राज्य में परशुराम कुंड भी है, जहाँ प्रति वर्ष मेला लगता है और भक्त-जन बड़ी संख्या में एकत्र होकर कुंड में स्नान करते हैं। इनके अतिरिक्त भी इस अंचल में अनेक पौराणिक स्थल हैं, जो पुरातत्व के साथ ही भारत के सांस्कृतिक परिदृश्य के विविध पक्षों को समझने की दृष्टि से गंभीर शोध की प्रतीक्षा में हैं।

अरुण नागरी ने उस अंचल के आदिवासी समुदायों में प्रचलित मंत्रों, प्रार्थनाओं तथा लोक-समाज द्वारा व्यवहार में लाई जाने वाली लोकोक्तियों को भी उनका हिंदी में भावार्थ सहित प्रकाशित किया। 'अरुणाचली मंत्र और प्रार्थना' शीर्षक लेख (अंक- 9-12) में योगेंद्र पाल कोहली द्वारा संकलित एक न्यिशी प्रार्थना-मंत्र इस प्रकार है- "तुंगुम बो बुगे/हुमको लो/तुंगुंग देर हिइरदो/ यापिंग बुगे, हमको ली। (हम ईश्वर 'तुंगुम बो' की पूजा करते हैं, जब हम एक साथ बैठकर खाना खाते हैं। हम उससे प्रार्थना करते हैं कि वह हम पर प्रसन्न हो।)..... दोन्यी बो कापा दो/सी बो तापा दो। (माता दोन्यी सदा हमारी गतिविधियों को देखती हैं, अत: सत्य मार्ग पर चलना चाहिए।)" (पृ. 46)। इसी प्रकार पादाम मिन्याङ् आदिवासी समुदाय में प्रचलित समृद्धि की देवी की प्रार्थना का एक मंत्र इस प्रकार है-"सिकिंग इगोगे नाने नोक/टिलिंग एसिगे पासुन नापे/आन्यी अमने नागक नामेम/आन्यी ओबोइ दुइपोर बिदुंग/ नोम आन्यी नुलुंगे तुउसी डाक्कु/आन्यी सुल बुंगेम तेनंग मोलेग का। (हमारी माता हमारे भोजन संबंधी अभाव को दूर करें। आपने ही भोजन की कमी दूर करने के लिए 'बीज' भेजा। आज बीज बोए गए हैं, खेतों में ये खूब उगें, फलें, फूलें, हम सब आपकी प्रार्थना करते हैं।)" (पृ. 47)। रमण शांडिल्य का 'गालो लोकोक्तियाँ' शीर्षक लेख अरुण नागरी के दूसरे अंक में ही प्रकाशित हुआ, जिसमें उन्होंने गालो आदिवासी समुदाय की पच्चीस लोकोक्तियाँ उनके भावार्थ सहित प्रस्तुत की हैं। उनमें से चुनी गई कुछ

लोकोक्तियाँ इस प्रकार हैं- "न्यिलो मेंकिना कारा मेम्वि हिला/हिपिक नुजिना हिरा नुबिहिला। (सुवक्ता किसी बात को अपने पक्ष में उसी प्रकार खींचता है, जैसे तीव्र जल-धारा अपनी दिशा में बहती है।), इसी बिस्सोम कापो/आगोम में असोम ताप्पो। (जल-धारा जिस प्रकार देखने में अच्छी होती है, ठीक उसी प्रकार कोई अच्छी बात सुनने में।), योरलो पोब्लो हिरिबिन्ना/देक मार-मो-लो पुआरता ना। (जिस प्रकार समस्त भूमि के बीच पहाड़ होता है, उसी प्रकार निष्पक्ष होकर रहना अच्छा है।), बुसे दोरोना ताको युब्बुला/तासाक दोरोना ताक्क-कायोला। (अकेला व्यक्ति सदा शक्तिहीन होता है।), तासी नोन्यि होवो, पामा/तायेन तिता येगरो मेम्मा। (बाहरी दिखावे से कोई बड़ा नहीं होता, जिस प्रकार पहनने से कुछ नहीं होता, जबकि एक मिथुन नहीं मार सकता।)" (पृ. 18, 19, 20)।

अरुण नागरी के प्रकाशन के मूल में एक रोमांचक-संयोग है। लेखक-राजनीतिज्ञ, माता प्रसाद जी ने 21 अक्तूबर, 1993 को अरुणाचल प्रदेश के राज्यपाल का पदभार ग्रहण किया, तो वे तात्कालीन राष्ट्रपति, माननीय शंकरदयाल शर्मा की प्रेरणा से उस प्रदेश का परिचय देने वाली एक पुस्तक लिखने के उत्साह से भरे थे। उन्होंने पाया, कि वहाँ के मूल छब्बीस आदिवासी समुदायों के लोग हिंदी को पारस्परिक संपर्क-माध्यम के रूप में व्यवहार में लाते हैं, किंतु उनकी लिपि-विहीन भाषाओं (केवल खामती और मोनपा भाषाओं की अपनी लिपियाँ हैं) को अधिकतम वैज्ञानिक देवनागरी लिपि में न लिखा जाकर, कभी स्वयं अंग्रेज़ी के लिए भी अपर्याप्त मानी जाने वाली रोमन लिपि में लिखे जाने की गंभीर कोशिशें हो रही हैं, जिससे उनकी ध्वनि-व्यवस्था को भारी नुकसान पहुँच रहा है। उधर विशाल हिंदी-जगत न केवल इस त्रासदी से आँखें मूंदे हुए है, बल्कि भाषाई और सांस्कृतिक वैविध्य के उस अद्भुत अंचल से प्राय: अनजान भी है। उन्होंने इसके एक बड़े कारण का उल्लेख करते हुए लिखा-"अरुणाचल प्रदेश के राजभवन पुस्तकालय में अंग्रेज़ी में विभिन्न विषयों की पुस्तकें हैं। अरुणाचल प्रदेश की स्थिति, यहाँ की जनजातियों, उनके उत्सवों-त्योहारों पर भी बहुत-सी पुस्तकें अंग्रेज़ी में उपलब्ध हैं। यहाँ तक कि प्रत्येक जनजाति और उनके धार्मिक रीति-रिवाजों पर अलग-अलग पुस्तकें यहाँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। परंतु हिंदी में ऐसी कोई पुस्तक नहीं मिली।" ('मनोरम भूमि अरुणाचल' (1995), पृ. 8)। उस समय तक 'अरुणाचल प्रदेश की जनजातियों के त्योहार' (वी. पी. पांडेय, 1978), 'अरुणाचल का खामती समाज और साहित्य' (भिक्षु कौण्डिन्य, 1982),'मिसिङ् जनजाति' (भिक्षु कौण्डिन्य),'अरुणाचल की आदी जनजाति का समाजभाषिकी अध्ययन' (धर्मराज सिंह, 1990), आदि पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं, हिंदी साहित्य कोश (सं. धीरेंद्र वर्मा), 'हिंदी पत्रकारिता : विविध आयाम' (सं वेदप्रताप वैदिक) 'पूर्वांचल की ओर' (मधुकर दिघे) आदि में इस प्रदेश के बारे में संक्षिप्त जानकारी दी गई थी और रमण शांडिल्य के कुछ लेख सरस्वती (इलाहाबाद), परिषद पत्रिका (पटना), राष्ट्रभाषा संदेश (इलाहाबाद), धर्मयुग (मुंबई) आदि में प्रकाशित हुए थे। उन्होंने सत्तर के दशक में 'साङ्पो' नामक एक पत्रिका का प्रकाशन भी किया था, जिसके नौ अंकों में अरुणाचल के आदिवासी जन-जीवन पर केंद्रित लेख प्रकाशित किए गए थे। लेकिन यह सामग्री इतनी कम थी, और धर्मयुग को छोड़ कर कहा जाए, तो इसकी पहुँच इतनी सीमित थी, कि इससे हिंदी-क्षेत्रों के विशाल समाज में अरुणाचल के बारे में अपेक्षित जागरूकता विकसित नहीं हो सकी। दूसरी ओर अंग्रेज़ी में इस प्रदेश के आदिवासी समुदायों और उनकी भाषाओं पर केंद्रित पुस्तकों की सूची बहुत बड़ी है और उस भाषा में प्रकाशन का इतिहास भी हिंदी से बहुत पहले प्रारंभ हो गया था। इसके अलावा, उपनिवेशवादी पृष्ठभूमि का बल अंग्रेज़ी के पक्ष में होने के साथ

ही बड़ी संख्या में भारतीयों की उपनिवेशवाद से बुरी तरह प्रभावित मानसिकता के चलते पाठकों के हाथों और राज्य-सत्ता के गलियारों में अंग्रेज़ी पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं की पहुँच और प्रभाव का अनुमान करना कठिन नहीं है। अरुणाचल के संदर्भ में हिंदी भाषा के समक्ष यह अति गंभीर चुनौती थी (इसमें प्रवासी और स्थानीय हिंदी लेखकों की सक्रियता बढ़ने के साथ धीरे-धीरे कमी आ रही है), जिसने माता प्रसाद जी के हृदय को पीड़ा पहुँचाई। उन्होंने अरुणाचल के बारे में स्वयं हिंदी में लिखने के साथ ही यह खोज भी की, कि वहाँ दूसरे कौन लोग साहित्य, संस्कृति और भाषाओं पर लिख रहे हैं। फलस्वरूप रमण शांडिल्य को एक दिन राजभवन से बुलावा आया। काफी देर चले विचार-विमर्श में माता प्रसाद जी ने उनसे अरुणाचल की भाषाओं की स्थिति को समझा और उन्हें देवनागरी में लिखे जाने के भाषावैज्ञानिक औचित्य पर भी बात की। इसके बाद रमण शांडिल्य से पूछा, 'आप इस बारे में क्या कर सकते हैं? हमने कहा, कर क्या सकते हैं, मैं एक पत्रिका निकालता हूँ, उसके माध्यम से देवनागरी के बारे में समझाया जाएगा और अरुणाचली साहित्य को उसमें लिख कर दिखाया भी जाएगा। तब रोमन और देवनागरी की क्षमताओं की तुलना भी हो जाएगी, दूध का दूध, पानी का पानी हो जाएगा। माता प्रसाद जी ने कहा पत्रिका का क्या नाम होगा? हमने कहा, 'अरुण नागरी'। उन्हें पसंद आया, बोले, अब एक संस्था भी बना लें, ताकि पत्रिका के लिए संसाधन जुट सकें और वह चलती रहे। इस तरह एक संस्था की बात हुई, नाम रखा गया, 'अरुण नागरी संस्थान, ईटानगर'। धर्मराज सिंह शासकीय महाविद्यालय में थे, माता प्रसाद जी के सुझाव पर उन्हें अरुण नागरी का प्रधान संपादक बनाया गया, मैं संपादक बना।' (18 अगस्त, 2020 को लेखक की रमण शांडिल्य से फोन पर हुई वार्ता का अंश)।

अरुण नागरी संस्थान, ईटानगर की स्थापना 22 अगस्त, 1994 को हुई और उसकी मुख पत्रिका, 'अरुण नागरी' का प्रवेशांक 1995 (जनवरी-मार्च) में पाठकों के हाथों में आ गया। इस पत्रिका की जीवन-यात्रा साढ़े तीन साल (जनवरी, 1995 – जून, 1998) की रही और केवल चौदह अंक प्रकाशित हुए, जिनमें से पहले छ: स्वतंत्र अंक हैं और बाद के आठ संयुक्तांक (7-8, 9-12, 13-14)। इतनी छोटी-सी जीवनावधि और इतने कम अंकों के बल पर ही अरुण नागरी ने अरुणाचल के जन-जीवन, आदिवासी भाषाओं और संस्कृति को न केवल हिंदी-जगत के समक्ष प्रस्तुत किया, बल्कि देश-भाषाओं के संवर्धन, संरक्षण और उन पर केंद्रित भाषावैज्ञानिक शोध का आधार भी निर्मित किया।

थोड़ी-सी चर्चा अरुण नागरी की समस्याओं की भी, ताकि हिंदीतर भाषी क्षेत्रों से प्रकाशित होने वाली लघु पत्रिकाओं से नाभिनालबद्ध कटु यथार्थ का संकेत मिल सके। अरुण नागरी के पास आदिवासी समुदायों के निकट रहते हुए अपने अनुभव और स्थानीय स्रोतों से जानकारियाँ जुटा कर तथा आवश्यकता होने पर अंग्रेज़ी पुस्तकों से सहायता लेकर हिंदी में लिखने वाले लेखकों की एक छोटी-सी टीम तो थी, लेकिन धन का अभाव था। यद्यपि पत्रिका की वार्षिक सदस्यता 25 रुपए रखी गई थी, जिसे बाद में 50 रुपए कर दिया गया, इसके विभिन्न अंकों में आजीवन सदस्यों के काफी नाम मिलते हैं और संरक्षक के रूप में भी 5 नाम हैं। एक अंक (9-12) में आजीवन सदस्यता के लिए 250 रुपए और संरक्षक के लिए 5,000 रुपए या इससे अधिक की घोषणा भी दिखाई देती है। लेकिन संपादक, कार्यकारिणी के एक समय के महासचिव तथा कई सदस्यों से जानकारी करने पर वे सभी स्पष्ट कहते हैं, कि यह राशि कभी प्राप्त नहीं हुई। अरुण नागरी की टीम संपर्क अवश्य करती थी और जो भी सौ-पचास या उससे भी कम दे देता था, उसका नाम छाप देती थी। टीम के एक सदस्य के अनुसार

कोई-कोई इन लोगों की बात ध्यान से सुनता था, चाय पिलाता था और अंत में हाथ जोड़ कर खाली हाथ विदा कर देता था। इसलिए ये लोग अधिकतर आपस में ही पैसा जमा करके अंक प्रकाशित करते रहे। यह अवश्य है, कि माता प्रसाद जी ने इस बात का बराबर ध्यान रखा कि अरुण नागरी का प्रकाशन बंद न हो जाए और समय-समय पर अपनी व्यक्तिगत आय में से आर्थिक सहायता करते रहे। इससे अरुण नागरी टीम का मनोबल बना रहा। इस पत्रिका के प्रकाशन में उदिता ऑफसेट, गुवाहाटी के स्वामी, विनोद रिंगानिया के सहयोग की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। अरुण नागरी को स्थानीय व्यापारियों के कुछ विज्ञापन भी मिले, किंतु उनकी कहानी भी वार्षिक या आजीवन सदस्यों से भिन्न नहीं है। फिर भी नाहरलागुन स्थित 'साङ चाय उद्योग' की प्रबंध निदेशक, श्रीमती याने दाई को अवश्य याद रखा जाना चाहिए, जिन्होंने अरुण नागरी के प्रवेशांक में अरुणाचल की उर्वरा भूमि में उत्पन्न होने वाली 'साङ चाय' का एकमात्र विज्ञापन दिया था।

*(**लेखकीय परिचय:** देवराज का मणिपुरी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वह एक गंभीर साहित्य-चिंतक, भाषाविद् एवं आलोचक हैं। देवराज की मणिपुर पर केंद्रित कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।*
मोबा. 7599045113, ईमेल : dr4devraj@gmail.com)